संपादिका महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

स्वर्गीय श्री हिम्मतमलजी सुराणा (चूरू) की पुण्य स्मृति मे उनके सुपुत्र श्री विजयसिंह सुराणा, कलकत्ता के सौजन्य से प्रकाशित।

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रवन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)/ मूल्य : पचीस रुपये / प्रथम सस्करण : १६६० / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

LAGHUTA SE PRABHUTA MILE by Acharya Tulsi

Rs. 25.00

पुरोवाक्

मनुष्य एक स्वप्नद्रष्टा प्राणी है। वह सपने देखता है और उन्हे आकार देने के लिए पुरुषार्थ भी करता है। सपने उसकी योग्यता और क्षमता के अनुरूप हो, पूरा पुरुषार्थ हो और सहायक सामग्री पर्याप्त हो तो सपने पूरे हो जाते है। औकात से अधिक बडे सपने देखना, पूरे मन से पुरुषार्थ न करना और सहायक सामग्री का योग न मिलना आदि ऐसे कारण हैं, जिनसे सपनो को आकार नही मिल पाता। ऐसी स्थिति मे मनुष्य की आकाक्षाओ पर कुहासा छा जाता है, नये सपनो की दुनिया मे झाकने का झरोखा बन्द हो जाता है और वह आहत मन से जिन्दगी का भार वहन करता है।

मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण सपना है प्रभुता-सपन्न होना। इस स्वप्न को आकार देने के लिए वह ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे आगे बढने हेतु ढेर सारी जानकारिया बटोरता है, वोटो के गलियारो से सत्ता के सिंहासन पर आरूढ होने का प्रयास करता है, पीडा के घनीभूत समदर मे डूबे लोगो को बचाने के लिए सेवा की नाव पर सवार होता है और अपने युग की आर्थिक-प्रतिस्पर्द्धाओ मे भागीदार बनकर अपना प्रभाव बढाना चाहता है। यह भी एक तरीका हो सकता है प्रभुता को पाने का। पर जीवन की उन वीथियो और दीर्घाओ मे ऐकान्तिक एव आत्यन्तिक प्रभुता का आश्वासन नही मिल सकता। कुछ क्षेत्रो मे कुछ समय के लिए मिली प्रभुता की डोर जब हाथ से छूटती है तो मनुष्य मानसिक दृष्टि से इतना निरीह और दुर्बल हो जाता है कि वह जीवन के यथार्थ का सामना नही कर सकता।

अध्यात्म का अपना दर्शन है। वह भी मनुष्य को प्रभुता-सपन्न होने की प्रेरणा देता है। उसकी प्रभुता का स्वरूप दूसरा है। वहा तक पहुचने के रास्ते भी अलग है। उन रास्तो का सगेकार ऊची शिक्षा, सत्ता, प्रतिष्ठा या सपदा मे नही है। रास्ते घुमावदार हो सकते हैं, विषम हो सकते है और रसहीन हो सकते हैं। उन रास्तो पर चलने का अभ्यास भी नही होता। पर सही लक्ष्य का निर्धारण, उस लक्ष्य तक पहुचने के लिए किया गया फौलादी सकल्प और प्रतिस्रोत मे वह

सकने का साहस जाग जाए, तो वे रास्ते कभी मनुष्य की आंखों से ओझल न हो सकते।

प्रभुता को पाने के उन नये रास्तो मे एक रास्ता है—प्रभुता पाने की लालसा का विसर्जन। जब तक यह लालसा मनुष्य पर हावी रहती है, वह अपने करणी के प्रति सचेत नही हो सकता। आचार्य भिक्षु ने जैन दर्शन के एक गंभीर तत्त्व को अभिव्यक्ति देते हुए कहा—'पुण्य की वांछा से एकान्त पाप का बन्धन होता है।' यह दर्शन जगत् की एक गूढ पहेली है। इस पहेली को समझने वाला व्यक्ति जानता है कि प्रभुता की चाह करने से प्रभुता नहीं मिलेगी। प्रभुता का वरण करने के लिए प्रतिस्रोत में चलना होगा। प्रतिस्रोत में चलने की बात याद आते ही कवि गुनगुनाने लगता है—

'लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर'

लघुता एक उपाय है। पर एकमात्र यही उपाय नहीं है। सहिष्णुता, समता, अनासक्ति, परछन्दानुवर्तिता, कृतज्ञता, प्रमाद के प्रति जागरूकता, प्रमाद-परिष्कार के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' की प्रक्रिया आदि अनेक उपाय हैं, जिनके द्वारा मनुष्य प्रभुता-संपन्न बनता है। यह प्रभुता औरों पर शासन करने, अधिक से अधिक सुख-सुविधा भोगने, वैयक्तिक स्वार्थ साधने अथवा प्रतिष्ठा के शिखर पर चढ़ने के लिए नहीं होती। यह ऐसी प्रभुता है, जो मनुष्य को स्वयं से परिचित कराती है, स्वय पर अनुशासन करना सिखाती है और स्वयं के भीतर छिपी हुई ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की समृद्धि को बढ़ाने की क्षमता प्रदान करती है। अब मनुष्य स्वयं सोचे कि उसे लघुता से प्रभुता की दिशा मे आगे बढ़ना है या प्रभुता के दर्प से लघुता की ओर फिसलना है?

योगक्षेम वर्ष के लिए हमने एक कलैण्डर तैयार किया था। उसमे उस वर्ष होने वाले प्रतिदिन के प्रवचनों के विषय निर्धारित कर दिए थे। विषयो का निर्धारण जैन आगमों के आधार पर हुआ था। उत्तरज्झयणाणि, आयारो, ठाणं आदि महत्त्वपूर्ण आगमो के महत्त्वपूर्ण सूक्तों, सूत्रों और पंक्तियो को सामने रखकर विषयो का चयन किया गया। 'आयारो' के आधार पर जो प्रवचन हुए, उनका एक संकलन—लघुता से प्रभुता मिले—इस नाम से पाठको के हाथ मे पहुंच रहा है। इससे पहले 'मुखड़ा क्या देखे दरपन में' और 'जब जागे तभी सबेरा'—ये दो पुस्तकें योगक्षेम वर्ष की रचनात्मक स्मृति के रूप मे मुद्रित हो चुकी हैं।

उक्त तीनों पुस्तकों मे जो सामग्री संचयित की गई है, उसका प्रवक्ता तो मैं रहा हूं। पर पुस्तकों के संकलन और संपादन का श्रेय अगर किसी को जाता है तो साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा को जाता है। इस श्रेय को स्वीकार करने में उसकी ओर से एतराज किया जाता है। किन्तु इस तथ्य को अलिखित छोडना, शायद इतिहास

की बडी भूल हो सकती है। मैं इस बात को मानता हू कि लेखन और सम्पादन का काम उसकी रुचि का विषय है। इस काम मे उसे आत्मतोष का अनुभव होता है और इसे वह अपना दायित्व समझकर करती है। बहुत बार वह यह भी कहती है कि इस काम से उसे नयी-नयी दृष्टिया मिलती है और बहुत कुछ जानने-समझने को मिलता है। उसकी इस सहजता को शुभ रूप मे स्वीकार करता हुआ मैं यह आशा करता हू कि 'लघुता मे प्रभुता मिले' पुस्तक अपने पाठको के मन और मस्तिष्क के दरवाजो पर 'योगक्षेम' की दस्तक देती रहेगी।

पाली
१५ अगस्त १९९०

आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

मस्कृति हमारी मा है। मा के आचल की छाया में बच्चा निश्चिन्त होकर सोता है। मा की ओढनी का पल्लू पकडकर वह निर्भीक होकर चलता है। मा के अस्तित्व का अहसास उमे सुरक्षा का अनुभव देता है। उसके लालन-पालन, भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, मस्कार-निर्माण आदि सभी क्षेत्रो मे मा का अपूर्व योगदान होता है। बच्चे के प्रति मा का ममर्पण भी अद्भुत होता है। किन्डर गार्डन पद्धति के प्रणेता जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री फ्रोबेल का अभिमत है कि—Mothers are the ideal teachers and the informal education given by home is most effective and natural

'मा आदर्श शिक्षिका होती हैं। बच्चे को घर पर जो अनौपचारिक शिक्षा दी जाती है, वह अधिक प्रभावी और स्वाभाविक होती है।'

पार्थिव शरीर को धारण करने वाली मा का बच्चे पर इतना उपकार होता है तो अपार्थिव मा के उपकारो की गणना कैसे होगी? सस्कृति हमारी अपार्थिव मा है। इस मा से हमको जन्म नही, जीवन मिलता है। इस मा का पल्ला हमारे हाथ से छूट गया तो हमें भटकन से बचाने वाला कोई नही मिलेगा। इस मा का मम्बन्ध किसी व्यक्ति, वर्ग, पीढी या समाज से नही होता। यह पूरे युग की मा होती है। अपनी समृद्ध मास्कृतिक सपदा की धरोहर को खो देने वाला भीतर से दारिद्र्य का जैसा अभिशाप भोगता है, शायद फुटपाथ पर सोने वाला एक फटेहाल भिखारी भी नही भोगता। इन्ही सब बातो को ध्यान मे रखकर सस्कृति की सुरक्षा के साथ-साथ उसके निर्मलीकरण की सार्थक चिन्ता की जाती रही है।

संस्कृति को उजागर करने और उसे लोकजीवन के साथ जोडने वाले घटको मे एक महत्त्वपूर्ण घटक है साहित्य। जिस साहित्यकार के प्राणों मे सस्कृति रची-बसी रहती है, उसका साहित्य जीवन्त होता है। सास्कृतिक मूल्यो की विस्मृति साहित्य को निष्प्राण बना देती हे। सस्कृति की सरचना जिन तत्त्वो से होती है,

उनका वर्गीकरण किया जाए तो अनेक विभाग हो सकते हैं। यहां हम उसके दो चेहरों को देख रहे हैं—लौकिक और लोकोत्तर। मनुष्य का खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन, वाद्य-संगीत, कलाकौशल, उत्सव-पर्व, परंपराएं आदि संस्कृति के लौकिक चेहरे को संवारते हैं। इसी प्रकार धर्म, अध्यात्म, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा आस्था, नैतिकता, चरित्र आदि तत्त्व उसके लोकोत्तर चेहरे को अभिव्यक्ति देते हैं। साहित्य के माध्यम से इन चेहरों का प्रतिबिम्ब लोक-जीवन पर पड़ता है।

आचार्यश्री तुलसी महान् साहित्यकार हैं। हिन्दी और राजस्थानी में लिखा हुआ उनका विशाल साहित्य इस युग की विशिष्ट धरोहर है। लोकोत्तर क्षेत्र में जनता की बेजान और बुझी हुई सोच को नये तेवर देने मे इस साहित्य का सहज योगदान है। अपने समय की ज्वलन्त समस्याओं का सही समाधान खोजने के लिए मनुष्य छटपटा रहा है, पर लगता है कि उसकी दृष्टि धुंधली हो गई और समझ भोंथरा गई। ऐसी परिस्थिति में आवश्यकता है दृष्टि को साफ सुथरापन देने और समझ को सुतीक्ष्ण बनाने की। आचार्यश्री की यह आस्था है कि मनुष्य के जीवन में समस्याओं का अंधेरा जितना सघन है, उससे अधिक रोशनी जैन आगमों में भरी हुई है। समाधान की वह रोशनी जन-जन को सुलभ हो, इस दृष्टि से जैन आगमों के गंभीर अध्ययन और मनन की अपेक्षा है।

आचार्यश्री के प्रवचनों का मूलभूत आधार जैन आगम हैं। जैन आगमो में 'आयारो' एक विशिष्ट आगम है। उसकी गहराई में उतरने वाला व्यक्ति अनुभव करता है मानो समस्याओं के ताप से आकुल उसके चित्त को सुस्ताने के लिए घनी और ठंडी छांव उपलब्ध हो गई है। ऐसे महत्त्वपूर्ण आगम को सामने रखकर आचार्यश्री ने लगभग पचास प्रवचन किए। इस आगम की क्षमता तो इतनी है कि इसके आधार पर हजार प्रवचन किए जा सकते हैं। पर इक्यावन प्रवचनों में भी जो बहुआयामी सामग्री परोसी गई है, वह पौष्टिक होने के साथ-साथ सहज सुरुचिपूर्ण है।

'लघुता से प्रभुता मिले'—पुस्तक में 'आयारो' की गंभीरता बहुत ही सरल और सुबोध शैली में अभिव्यक्त हुई है। इसके द्वारा आचार्यवर ने जनसाधारण और प्रबुद्ध—दोनों वर्गों को समान रूप से उपकृत किया है। हमारी संस्कृति को संरक्षण देने वाली ऐसी कालजयी कृतियो से लोकजीवन में परिव्याप्त अन्धकार पूरी तरह से समाप्त हो जाएगा, इस अतिरेकवाद मे हमारा विश्वास नही है। पर इतना निश्चित है कि ऐसी भास्वर कृतियो के अध्ययन-मनन से हमारे अज्ञान-तिमिर की उम्र कुछ तो घटेगी ही।

मेरा सौभाग्य है कि आचार्यश्री ने अपनी साहित्यिक कृतियों के संपादन का अवसर मुझे दिया। इस अवसर को प्राप्त कर मैं अपने आप में कृतार्थता और

अपने जीवन के कुछ क्षणो की सार्थकता का अनुभव करती हू । मेरी यह आकाक्षा है कि मैं ऐसे महान् आचार्य के साहित्यिक सन्दर्भों से जुडी रहकर अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त होने का मौका देती रहू ।

पाली

१५ अगस्त १९९०

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

अनुक्रम

लघुता से प्रभुता मिले

१. लघुता से प्रभुता मिले

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
चीटी शक्कर ले चली, हाथी के सिर धूर॥

प्रभुता उसको मिलती है, जो लघु बनकर रहता है, हल्का बनकर रहता है। जो तथाकथित बडप्पन के बोझ से दबा रहता है, प्रभुता उसका वरण कैसे करेगी ? जो जितना लघु होकर रहता है, अह को विसर्जित कर काम करता है, अपने आपको छोटा मानता है, शान्त रहता है, सहज भाव से जीता है, वह कुछ भी पा सकता है। चीटी हल्की होती है। वह कही भी घुसकर चीनी ले आती है। चीटी की तुलना मे हाथी बहुत अधिक भारी होता है। वह ऐसे स्थान मे प्रवेश ही नही पा सकता, जहा चीनी रखी जाती है। वह तो अपनी सूड मे धूल भरकर सिर पर डाल सकता है। इस स्थूल उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है कि लघुता के कितने लाभ हैं ? जहा शरीर के साथ आत्मा मे भी लाघव आ जाता है, वहा तो उपलब्धियो का कहना ही क्या ?

मोटापा बाधक बनता है

सबसे पहले शरीर के भारीपन को लें। यह आवश्यक नही है कि शरीर भारी होने से आत्मा भी भारी होगी। पर यह निश्चित है कि शरीर के भारीपन से चलने-फिरने तथा उठने-बैठने मे कठिनाई हो जाती है। हमारे सघ मे एक मुनि हुए है खेमजी स्वामी। उनसे अधिक भारी किसी मुनि को हमने नही देखा। उनके ससारपक्षीय पिता मुनि दीपचन्दजी वृद्ध थे। वे खाटू मे स्थिरवासी थे। मुनि खेमजी उनकी सेवा मे थे। मुनि दीपचन्दजी का स्वर्गवास होने के बाद उनके सामने सबसे बडी समस्या थी चलने की। वे शासन भक्त और पापभीरु मुनि थे। पर चलने की कठिनाई से उनका मन कमजोर हो गया।

मुनि खेमजी की मन स्थिति की जानकारी पाकर पूज्य कालूगणी ने उनको आश्वस्त करते हुए कहा—'चला नही जाता, इस बात को लेकर उनको चिन्तित होने की जरूरत नही है। वे मनोबल जुटाकर धीरे-धीरे चलते हुए एक बार आ

जाएं।' इस वात से उनको वल मिला। वे आ गए। वास्तव मे उनके शरीर की स्थिति चलने जैसी नही थी। इसलिए उनको चाड़वास रखा गया। उन्हे अनुभव हुआ कि उनके शरीर का भारीपन साधुचर्या मे कितना वाधक वना हुआ है।

लघुता का मंत्र : खाद्य-संयम

प्रश्न होता है कि मोटापा क्यो होता है? कई कारण हो सकते हैं। एक महत्त्वपूर्ण कारण है—खाद्य-संयम का अभाव। प्रारम्भ से ही खाने-पीने के मामले में वरती गई लापरवाही शरीर को असतुलित वना देती है। अधिक मिठाइयां, मिर्च-मसाले आदि स्वास्थ्य के लिए घातक हैं। पेट भरने के लिए इन सव चीजो की आवश्यकता होती भी नही। इन्हे खाने की प्रेरणा जागती है स्वादवृत्ति से। यह स्वादवृत्ति या आसक्ति व्यक्ति को खोमचो पर ले जाती है, दुकानो पर ले जाती है, इससे स्वास्थ्य विगड़ता है और वच्चो के संस्कार विगड़ते हैं। वाजार की चीज खाने का परित्याग करने से सहज रूप मे खाद्य-संयम हो जाता है।

खाने का असंयम वीमारी के साथ मौत को भी वुलावा देता है। लगता है कि भोजन का सयम नहीं करने वाले दीर्घजीविता के इच्छुक नही हैं। लोग मोक्ष और स्वर्ग के सुखो की चर्चा करते है। मैं मानता हूं कि खाने-पीने के असंयम से मोक्ष और स्वर्ग के सुख तो दूर, इस जीवन का सुख भी नही मिल सकता। दो-चार दिन कम भोजन करने अथवा विलकुल न करने से किसी का कोई नुकसान नही होता। एक दिन भी अधिक खा लिया तो नुकसान हो सकता है। नही खाने से व्यक्ति नही मरता, पर अधिक खाने से मौत का वरण कर सकता है। अधिक खाकर शरीर से भारी वनने वाले लोग थोड़े-से संयम और विवेक से काम लें तो लघुता की दिशा मे गति कर सकते हैं।

व्युत्सर्ग की मूल्यवत्ता

हल्का वनने का एक उपाय है व्युत्सर्ग। निर्जरा के वारह भेदो मे एक व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं—द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। शरीर, गण, उपधि और भक्तपान के भेद से द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का होता है। भाव व्युत्सर्ग के तीन रूप हैं—कषाय, संसार और कर्म।

शरीर-व्युत्सर्ग का सम्वन्ध कायोत्सर्ग से है। प्रेक्षाध्यान की साधना मे कायोत्सर्ग का प्रयोग करवाया जाता है। भगवान महावीर के साधनाकाल मे स्थान-स्थान पर वोसट्ठचत्तदेहे, वोसट्ठचत्तकाए जैसे प्रयोग मिलते है। शरीर को तनाव-मुक्त करने मे कायोत्सर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शरीर के साथ गण-व्युत्सर्ग का भी उल्लेख है। साधना के विशेष प्रयोग करने के लिए अथवा कुछ विशेष परिस्थितियो मे गण का व्युत्सर्ग किया जाता है। उपधि-व्युत्सर्ग का भी

अपना मूल्य है। उपकरणो का व्युत्सर्ग करने वाला ऊपर से हल्का रहता है और भीतर से भी हल्का रहता है। भक्तपान का व्युत्सर्ग साधना का विशेष प्रयोग है। आत्मवली व्यक्ति ही आहार-पानी का विसर्जन कर पाते है।

अव तक जिस व्युत्सर्ग की चर्चा हुई, वह द्रव्य-व्युत्सर्ग है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है भाव-व्युत्सर्ग। इसमे कषाय छूटता है, ससार छूटता है और कर्म छूटते है। शरीर-व्युत्सर्ग से भी अधिक कठिन है कपाय-व्युत्सर्ग। कषाय आत्मा का जितना अहित करता है, शरीर नही कर सकता। कपाय के दश काले नाग के दंशो की तरह पीडक होते हैं। इस दृष्टि से कपाय को कृश करना, कषाय को हल्का करना वहुत जरूरी है।

कषाय व्युत्सर्ग मे आता है हल्कापन

शिष्य ने तपस्या करने से पहले गुरु की आज्ञा ली। गुरु ने कहा—हल्के बनो। शिष्य ने तीन दिन की तपस्या की। वह पारणे के लिए आज्ञा लेने आया। गुरु ने कहा—हल्के वनो। शिष्य ने दो दिन और वढा दिए। पचोला हो गया। पारणे के समय गुरु ने वही वात दोहराई। शिष्य का मन वढा। अठाई हो गई। फिर पारणे का समय आया। गुरु ने कहा—हल्के बनो। शिष्य ने पन्द्रह दिन की तपस्या कर ली। गुरु का रुख नही वदला। मासखमण की तपस्या पूरी होने पर भी गुरु ने कहा—हल्के वनो। इस वार शिष्य का सतुलन टूट गया। वह आवेश मे आकर वोला—'एक ही रट लगा रखी है—हल्के वनो, हल्के बनो। कभी दो दिन उपवास करके तो देखें। शरीर सूखकर काटा हो गया। सारा वजन घट गया। अव और क्या हल्का वनू ?'

गुरु ने शिष्य को प्रतिवोध देते हुए कहा—तपस्या कर शरीर को अस्थिपजर वनाने से क्या लाभ? हल्के वनो कपाय से। जव तक क्रोध, मान, माया और लोभ का भार ढोते रहोगे, हल्कापन नही आएगा। कोई व्यक्ति उपवास कर सके या नही, तपस्या कर सके या नही, कपाय से हल्का हो जाए तो जीवन सौंदर्य से भर जाता है। अल्पक्रोधी, अल्पमानी, अल्पमायी और अल्पलोभी व्यक्ति का सहवास सवके लिए सुखद होता है।

उपकरण की आसक्ति वढाती है मूढता

कपाय का हल्कापन आवश्यक है, वैसे ही उपकरणो का हल्कापन जरूरी है। कपाय भीतर रहता है। उपकरणो का भार सामने दिखाई देता है। जो साधक उपकरणो का व्यामोह नही छोड सकते, वे उपकरणो की ओट मे कषाय का भार वढा लेते हैं।

एक यति के दो शिष्य थे। यति के दिवगत होने पर उन्होने यति की सपत्ति

का बटवारा किया। यति के पास उपाश्रय था और पुस्तको का भंडार था। उपाश्रय के दो भाग हो गए। बीच मे दीवार खीच दी गई। पुस्तक भंडार को आधा-आधा कर लिया गया। सब कुछ बराबर था। केवल एक प्रति अधिक हो गई। दोनो वही अड गए। एक कहता है—यह प्रति मेरे पास रहेगी। दूसरा कहता है—यह मुझे मिलनी चाहिए। दोनों मे से कोई भी अपने अधिकार का विसर्जन करने के लिए तैयार नही हुआ। आखिर उन्हे मध्यस्थता करने वाला व्यक्ति मिला। उसने कहा—'एक करौत लाओ। इसके दो भाग कर देता हू। एक-एक भाग ले लेना।' वे करौत ले आए। मध्यस्थ व्यक्ति ने प्रति को काटना शुरू कर दिया। आधी प्रति कट गई।

इसी बीच वहा कोई समझदार व्यक्ति पहुच गया। उसने स्थिति का जायजा लिया। एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन प्रति का विनाश होते देख उसकी आत्मा रो उठी। उसने उनको समझाते हुए कहा—'यह क्या मूर्खता कर रहे है। प्रति कट जाएगी तो किसी काम की नही रहेगी। आगन्तुक व्यक्ति के समझाने से वह प्रति बच गई। एक अनर्थ होते-होते टल गया। वह प्रति इस समय हमारे पुस्तक भडार में है। पूज्य कालूगणी ने हमको वह प्रति दिखाई और उससे सबधित इतिहास की जानकारी दी। सुनकर आश्चर्य हुआ। कैसे-कैसे लोग होते है इस ससार मे।

खींचतान क्यों ?

भगवान महावीर ने सचेल और अचेल—दो प्रकार की साधना निरूपित की। अचेल मुनि उपकरणों का सर्वथा परिहार कर देते हैं। सचेल मुनि सीमित उपकरण रखते हैं। अधिक उपकरण रखने से उनका भार उसी को उठाना पडता है। इस दृष्टि से 'आयारो' मे कहा है—**लाघवं आगममाणे**—अचेल मुनि लघुता को प्राप्त होते हैं। सचेल मुनि सीमित उपकरण रखकर अतिरिक्त भार को कम कर देते हैं। इस प्रकार वे भी लघुता को प्राप्त हो जाते है। **तवे से अभिसमण्णागए भवति**—जो उपकरणो का व्युत्सर्ग करता है, उसके तप होता है।

आचार्य भिक्षु सचेल थे, पर वे हल्केपन के पुजारी थे। उन्होने वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो की मर्यादा को ध्यान मे रख सब साधुओ को हल्का रहने का प्रशिक्षण दिया। पाली का प्रसग है। एक श्रावक ने मुनि हेमराजजी से कहा कि उनकी पछेवडी मर्यादा से बडी है। मुनिजी ने बताया कि पछेवड़ी का माप किया हुआ है। यह बडी नही है। श्रावक ने उनकी बात को सही नही माना। दोनो मे खीचतान हो गई।

आचार्य भिक्षु दूर बैठे थे। उनको खीचतान का आभास मिला। उन्होंने मुनि हेमराजजी को सम्बोधित करते हुए कहा—'हेमड़ा ! क्या कर रहा है ?' मुनिजी

बोले—'यह भाई कहता है कि मेरी पछेवडी वडी है। पछेवडी मापी हुई है। किन्तु यह मानता नही है।' आचार्य भिक्षु ने समस्या को समाहित करते हुए कहा—'इसमे आग्रह की क्या वात है ? इधर आओ, अभी पछेवडी का माप कर देता हू।' मुनि हेमराजजी अविलम्ब वहा आए। उन्होंने पछेवडी उतार कर रख दी।

आचार्य भिक्षु ने श्रावक के सामने ही उसका माप किया। पूरी पाच हाथ की थी। अव आप श्रावकजी के अभिमुख होकर वोले —'देखो, पछेवडी वडी कहा है ? पछेवडी वडी रखने का आरोप लगाने से पहले तुमने यह नही सोचा कि ये चार अगुल कपडे के लिए साधुपन खोएगे क्या ? तुम तो यह भी कह सकते हो कि रास्ते मे कोई साधु कच्चा पानी पी रहा था। अगर कोई पी भी लेगा तो तुम क्या करोगे ? कहा-कहा साथ रहोगे ? तुम इस वात को क्यो भूल जाते हो कि आत्मार्थी साधु कभी ऐसी गलती नही करते।

इस समग्र चर्चा का निष्कर्ष यह है कि साधक भीतर से हल्का रहे और वाहर से भी हल्का रहे। जो हल्का रहता है, श्रमण-धर्म लाघव की आराधना करता है, उसे प्रभुता की प्राप्ति हो जाती है। लाघव का एक अर्थ अपने आपको छोटा मानना है। जो स्वय को छोटा मानता है, अहकार का विलय करता है, वह महान होता है। प्रभुता स्वय आकर उसका वरण कर लेती है।

२. जो सहता है, वह रहता है

जीवन के पहाड़ की चढ़ाई बहुत सीधी नही होती। इसमे कही चढ़ना पड़ता है, कही उतरना पड़ता है। कही घुमावदार पथ पार करना पड़ता है, कही सीधी पगडडी मे चलना पड़ता है। रास्ते मे कही काटे बिछे हैं तो कही फूलो की मनभावन सुगन्ध है। कही ऊबड-खाबड रास्ता है तो कही समतल सगमरमर बिछा है। कही वृक्षो से छन-छनकर आती सुहावनी धूप है तो कही सूरज की किरणो से अंगारे बरसते हैं। चढ़ाई प्रारम्भ करते समय हर एक आदमी मे नया उत्साह, नयी उमग और नया जोश होता है। पर कुछ लोगो का उत्साह मन्द हो जाता है। क्योकि वे प्रतिकूल परिस्थितियो को सहना नही जानते। कभी-कभी असहिष्णुता का पारा इतना चढ़ जाता है कि व्यक्ति अपनी सीमाओ का अतिक्रमण कर देता है अथवा अपने अस्तित्व को ही मिटा देता है। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि जो सहता है, वह रहता है।

निर्ग्रन्थ बनने का मन्त्र

आयारो मे निर्ग्रन्थ को परिभाषित करने वाला एक सूक्त है—'सीउसिणच्चाई से णिग्गंथे।' जो सर्दी और गर्मी सहन करता है, वह निर्ग्रन्थ होता है। यहां सर्दी और गर्मी प्रतीकात्मक शब्द है। इनका वाच्यार्थ है अनुकूलता और प्रतिकूलता। जो व्यक्ति सर्दी-गर्मी, सुख-दु ख, क्षमा-क्रोध, सम्मान-अपमान, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, प्रशसा-निन्दा, मित्रता-शत्रुता आदि द्वन्द्वात्मक परिस्थितियो को समभाव से सहना जानता है, सह लेता है, वह निर्ग्रन्थ होता है। यह निर्ग्रन्थ बनने का मूल मत्र है। इस मंत्र की साधना करने वाला अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी स्थिति मे विचलित नही होता।

जिन लोगो को यह मंत्र नही मिलता है, जो इसका उपयोग नहीं करते हैं, उनके जीवन मे पग-पग पर खतरो की सभावना रहती है। छोटे-छोटे कारण उपस्थित होते है, वे रामायण और महाभारत गढ़ देते है। एक लोक प्रचलित दोहा इसी तथ्य की पुष्टि कर रहा है—

हासी मत कर वावला ! हंसिया हुवै विगाड़।
हासी-हासी मे हुई महाभारत री राड ॥

छोटी-सी मजाक का दुष्परिणाम

पाण्डव कौरवो के चचेरे भाई थे। पाण्डवो ने एक विशेष अवसर पर कौरवो को आमन्त्रित किया। वे आए। राजमहल मे प्रवेश करने से पहले उनको ऐसे स्थान पर चलना पडा, जो भ्रम पैदा कर रहा था। उस स्थान का यह वैशिष्ट्य था कि वहां जलरहित स्थान पर जल दिखाई दे रहा था और सजल स्थान मे सूखी धरती की प्रतीति होती थी। कौरवो ने उस स्थल पर चलते समय पानी समझकर अपने कपडे ऊपर की ओर खीच लिये। वाद मे पता चला, वहा पानी नही था। कुछ दूर आगे वढकर वे कपडे ऊचे किए विना ही चलते रहे। वहा पानी मे उनके कपडे भीग गए। द्रौपदी महल के गवाक्ष मे वैठी देख रही थी। उसने विनोद के मूड मे दुर्योधन के लिए कह दिया—'अधो के वेटे अधे ही होते हैं।' यह वात उसके मन मे चुभ गई। उसने उसी समय तेवर वदल लिये। प्रतिशोध की भावना जागी। वह अपने अपमान का वदला लेने के लिए सकल्पित हो गया।

मामा शकुनि के सहयोग से योजना वनी। जुआ खेलने का प्रस्ताव रखा गया। पाण्डवो ने सहजभाव मे प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। जुए मे वे सव कुछ हार गए। यहा तक कि द्रौपदी को भी दाव पर रखकर हार गए। भरी सभा मे द्रौपदी का चीरहरण। पाण्डवो का अज्ञातवास। समय पूरा होने पर उनका आगमन। कौरवो की ओर से प्रताडना। श्रीकृष्ण द्वारा समझौते का प्रयास। पर सव व्यर्थ। दुर्योधन का दो टूक जवाव—'सूच्यग्र नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !'

इन सव परिस्थितियो पर विचार करने से पता चलता है कि दुर्योधन को मजाक का विषय नही वनाया जाता तो न द्रौपदी का चीरहरण होता और न महाभारत होता।

राम की वचनसिद्धि

महाभारत से प्राचीन प्रसग है रामायण का। श्रीराम उन दिनो सीता और लक्ष्मण के साथ वनवास मे थे। जैन रामायण के अनुसार शूर्पणखा का पुत्र शम्बूक वास के वीड मे विशेष साधना कर रहा था। तेले-तेले तप की साधना पूरी होने के वाद उसे चन्द्रहास खड्ग उपलब्ध होता। उससे वह तीन खण्ड का अधिपति वन जाता। शम्बूक की तपस्या का वह अतिम दिन था।

उस दिन लक्ष्मण जगल से फल-फूल तोडकर लाये। सीता ने उनको सस्कारित किया। तीनो ने साथ वैठकर उनको खाया। फल खाने के वाद

लक्ष्मण बोला—'भैया ! मैं थोड़ा घूमकर आता हूं।' राम ने कहा—'कोई झझट मोल मत ले लेना।' लक्ष्मण गए। चलते-चलते वे उसी बास-बीड के पास पहुच गए। उन्होंने वहा चन्द्रहास खड्ग पड़ा देखा। शायद वनदेवी ने हमे उपहार दिया है, यह सोच उन्होने खड्ग उठा लिया। खड्ग काम करता है या नही ? इस जिज्ञासा से उन्होने वंश-बीड पर उसे चला दिया। वहा साधनारत शम्बूक का सिर कट गया।

खड्ग को रक्तरजित देख लक्ष्मण बीड़ मे गए। वहां वृक्ष पर औंधे सिर लटकते एक युवक का सिर कटा देख लक्ष्मण व्यथित हो गए। अनजाने मे अपने द्वारा हुए अपराध ने उनको झकझोर दिया। वे दु खी मन से राम के पास आए। राम उनके हाथ मे रक्त से सनी तलवार देखते ही बोले—'अरे लक्ष्मण ! तुमने यह क्या किया ?' लक्ष्मण ने कहा—'भैया ! मैंने जानबूझकर कुछ नही किया। यह तो आपकी जुबान फली है। अब मैं क्या करूं ?'

पुत्रहन्ता की खोज मे

शूर्पणखा उस दिन बहुत प्रसन्न थी। पुत्र की विद्या-सिद्धि की कल्पना से वह रोमांचित हो रही थी। शम्बूक की तपस्या पूरी होने जा रही थी। वह पूजा का सामान और भोजन सामग्री साथ लेकर जंगल मे आई। पुत्र को त्रिखण्डाधिपति होने की बधाई देने की उत्सुकता मे वह अधीर हो रही थी। किन्तु ज्योंही वह बीड़ के पास पहुची, उसने अपने पुत्र का शव देखा। वह चीख उठी। यह क्या हो गया ? कुछ समय तक वह पागलो की तरह रोती रही। आखिर रोने से क्या होता ? उसने अपने आपको सभाला। पुत्रहन्ता के प्रति उसके मन मे द्वेष की आग जल उठी। उसने इधर-उधर देखा। कुछ पदचिह्न दिखाई दिए। पदचिह्नो का अनुसरण करती हुई वह वहां पहुच गई, जहा राम, लक्ष्मण और सीता बैठे थे। वह समझ गई कि उसके पुत्र की हत्या करने वाले ये है।

स्त्री का चरित्र

प्रथम क्षण मे वह जिनको पुत्रहन्ता मानकर आक्रोश मे भर रही थी, दूसरे क्षण उसका मन बदल गया। राम के रूप में वह इतनी मुग्ध हो गई कि पुत्र का दु.ख भूल गई। राम को पाने के लिए वह षोडशी सुन्दरी बन उनके सामने खडी हो गई। राम-लक्ष्मण समझ गए कि यहा कुछ-न-कुछ छलावा है। वे सम्भल गए। शूर्पणखा को अपने सामने देख राम ने पूछा—'देवी ! तुम कौन हो ? मानुषी हो या अप्सरा ? यहा क्यो आई हो ?'

शूर्पणखा ने नाटक दिखाना शुरू किया। वह बोली—'महोदय ! मेरा सौन्दर्य मेरे लिए घातक बन रहा है। कोई भी पुरुष मुझे देख मुग्ध हो जाता है और मुझे

पाना चाहता है। पुरुष क्या, विद्याधर भी मुझ पर आसक्त रहते हैं। अभी कुछ समय पहले एक विद्याधर ने मेरा अपहरण कर लिया। दूसरे विद्याधर ने उससे मुझे मागा। उसने स्वीकार नही किया। दोनो आपस मे भिड गए। एक-दूसरे के तीरो से वे दोनो मर गए। मैं अकेली रह गई। अब मैं बहुत दु खी हो गई। मेरा घर छूट गया। कोई सहारा है नही। क्या करू ? कहा जाऊ ? इसी उधेडबुन मे घूम रही थी। इधर आपको देखा तो मुझे लगा कि यहा मुझे त्राण मिल सकता है। मेरा भाग्य अच्छा है कि आप जैसे सज्जन व्यक्ति इस जगल मे मुझे मिले। अब मैं एक ही अनुरोध करती हू कि आप मेरे साथ विवाह कर ले। इससे मैं निश्चिन्त हो जाऊगी। अपना दु ख भूल जाऊगी।'

शूर्पणखा की बनावटी बातो से श्रीराम समझ गए कि वह स्त्री कोई कुलटा है। अचानक उन्हे मजाक सूझी। वे बोले—'सुन्दरी ! तुम्हारा रूपलावण्य अद्भुत है। तुम जैसी अप्सरा भाग्य से मिलती है। पर क्या करू ? मैं शादीशुदा हू। पहले से ही एक पत्नी मेरे साथ है। उसके रहते मैं दूसरी शादी कैसे करू ? कोई चोर तो दण्ड स्वरूप भी दो पत्नियो को स्वीकार नही करता।'

दो पत्नियो के बीच मे फसा सेठ

चोर दो पत्नियो को स्वीकार नही करता, इस सन्दर्भ मे पूज्य कालूगणी एक कहानी कहा करते थे—एक चोर चोरी करने गया। जिस घर मे वह चोरी करने की नीयत से घुसा था, वहा एक तमाशा देखने लगा। तमाशा देखते-देखते उजाला हो गया। चोर पकडा गया। उसे अदालत मे पेश किया गया। चोरी के सबध मे पूछताछ करने पर उसने कहा—'मैं चोरी करने गया था, पर चुराया कुछ भी नही।' मजिस्ट्रेट बोला—'तुम अपराधी हो। दण्ड तो मिलेगा ही।' यह बात सुन चोर ने कहा—'मालिक ! मुझे दण्ड दो। शूली पर लटका दो, फासी के तख्ते पर चढा दो, किन्तु दो औरतें मत देना।'

मजिस्ट्रेट कुछ समझा नही। वह बोला—'क्या बकवास कर रहे हो ? साफ-साफ बताओ।' चोर बोला—'जी ! मैं कल रात सेठ साहब के घर गया। इनके दो पत्निया हैं। एक नीचे रहती है और एक ऊपर। सेठ साहब बाहर से आए और सीढिया चढकर ऊपर जाने लगे। आधी दूर चढने के बाद नीचे वाली सेठानी दौडकर गई। उसने सेठजी के पाव पकड लिये और कहा—'आज मेरी बारी है। आप ऊपर कैसे जा रहे है ?' सेठजी वापस मुडे तो ऊपर वाली सेठानी दौडकर आई। वह सेठ साहब का हाथ पकडकर बोली—'आप ऊपर आ ही गए हैं, अब मैं नीचे नही जाने दूगी।' सेठजी उन दोनो के बीच मे थे। एक उन्हे नीचे की ओर खीच रही थी, दूसरी ऊपर की ओर। इस खीचातानी मे सेठजी लहूलुहान हो गए। एक अच्छा तमाशा होने लगा। मैं सेठजी के घर चोरी करने गया था। पर

चोरी की वात भूल गया और तमाशा देखता रहा। सेठजी की हालत पर मुझे तरस तो आया ही, किन्तु मैं इस कल्पना से काप उठा कि मुझे दडित करने के लिए यह नुस्खा काम मे लिया गया तो···।'

सेठ साहब सामने वैठे थे। उनकी आखें शर्म से नीचे झुक गईं। मजिस्ट्रेट महोदय अपनी हसी को रोक नही पाए। श्रीराम ने ऐसी ही किसी घटना की ओर सकेत करके शूर्पणखा द्वारा प्रस्तावित विवाह की वात अस्वीकार कर दी।

काम आदमी को अन्धा वना देता है

शूर्पणखा राम की वात सुन उदास हो गई। वह गिडगिड़ाती हुई वोली—'आप महान् हैं। कुछ भी कर सकते है। मैं अकेली इस जगल मे क्या करूगी ? मुझे कोई उपाय तो वताए।' लगता है श्रीराम उस दिन हसी पर उतर आए थे। उन्होने लक्ष्मण की ओर इशारा करते हुए कहा—'देख, वह मेरा भाई है। सुन्दर है, वलवान है और अकेला है। तू उसके पास जा।'

शूर्पणखा ने लक्ष्मण की ओर देखा। वह भी कम आकर्षक नही थे। वधी हुई गाय की तरह वह उनके पास गई और वोली—'आपके भाई ने कहा है कि आप मेरे साथ विवाह कर मेरा कष्ट दूर करें।' लक्ष्मण मन-ही-मन हसे। प्रकट मे वे वोले—'भाई ने जो कुछ कहा, उसका मैं आदर करता हूं। पर करू क्या ? एक भूल हो गई। तुम पहले राम के पास चली गई। इस कारण मेरी भाभी हो गई। वड़े भाई की माग का वरण छोटा भाई कैसे कर सकता है ? भाभी को मैं अपनी पत्नी कैसे वना सकता हू ?'

शूर्पणखा के आशाकमल पर तुषारापात हो गया। वह वोली—'भूल को सुधारने वाले आप हैं। एक निरीह स्त्री की उपेक्षा करना क्षात्र धर्म मे वर्जित है। आप वताए, मैं क्या करूं ?' लक्ष्मण ने अपनी हंसी को नियंत्रित करते हुए कहा—'वड़े राजाओ के अनेक रानियां होती हैं। राम के एक पत्नी है तो क्या हुआ, तुम कोशिश करो। शायद उनका मन जीत सको।'

शूर्पणखा का उपहास

कामातुर शूर्पणखा फिर राम के पास गई। उसने लक्ष्मण द्वारा उपस्थित तर्क उन्हे सुना दिया। राम वोले—'सुन्दरि ! लगता है तू वहुत भोली है। आदमी के मन को समझती ही नही। हाथी के दात दिखाने के दूसरे होते हैं और खाने के दूसरे होते हैं। वह तुझे यो ही फुसला रहा है। तू उसी के पास जा और उसे प्रसन्न कर। वह तुझे स्वीकार कर लेगा।'

शूर्पणखा दोनो भाइयो के वीच में हो गई। राम उसे लक्ष्मण के पास भेजते और लक्ष्मण राम के पास। उसे विह्वल अवस्था मे इधर-उधर दौड़धूप करते

देख सीता को हसी आ गई। वह उसके अभिमुख होकर बोली—'काश ! तेरी आखो मे थोडी-सी शर्म होती ! तेरे जैसी औरत पूरी नारी जाति को लाछित कर देती है।'

सीता के ये शब्द उसके सीने मे तीर की तरह चुभ गए। क्रोध मे दात पीसती हुई वह अपने मूल रूप मे आ गई। उसने अपना परिचय देते हुए कहा—'तुम किस भ्रम मे भूले हो ? मैं राजा रावण की वहन और राजा खर की रानी शूर्पणखा हू। तुम लोगो ने मुझे अपमानित कर अपनी मौत को वुलाया है। तुमने मेरे वेटे को मारा है और उसकी खड्ग पर अपना अधिकार किया है। अव देखना, तुम्हारा नामशेष न कर दू तो मेरा नाम शूर्पणखा नही।'

शूर्पणखा की धमकी भरी वातें सुन लक्ष्मण वोले—'तुम्हारे वेटे की हत्या हमने जान-वूझकर नही की। भूल से वह मारा गया। उसका हमे अनुताप है। पर तुम अपने पुत्र की लाश पर यह नाटक खेल रही हो। कहा गया वह तुम्हारा पुत्र-प्रेम ! क्या कोई मा इतनी हृदयहीन हो सकती है ?'

जीवन-विकास के सूत्र

कौरवो की असहिष्णुता ने महाभारत की पृष्ठभूमि तैयार की। शूर्पणखा की असहिष्णुता राम और रावण के वीच युद्ध का निमित्त वनी। मनुष्य निमित्तो की दुनिया मे जीता है। छोटे-छोटे निमित्त उसे असतुलित कर देते है। सतुलन के लिए सहिष्णुता अपेक्षित है और सहिष्णुता के लिए धैर्य जरूरी है। धैर्य की धरती पर ही सहिष्णुता की पौध लहलहाती है। सहिष्णु व्यक्ति किसी भी अवाछनीय स्थिति के लिए दूसरे को दोष नही देता। वह अपनी आत्मा को ही सवसे वडा निमित्त मानता है।

सहिष्णुता जीवन का महान् मूल्य है। ऐसे अनेक जीवन मूल्य आगमो मे विखरे पडे हैं। उन विखरे हुए मूल्यो को वटोरने के लिए दृष्टि चाहिए। दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति अन्वेपी होता है। दृष्टि न हो तो रत्नो के ढेर पर चलने वाला व्यक्ति भी उनको नही देख सकता। दृष्टि हो तो काच के टुकडो मे छिपे रत्न को खोजा जा सकता है। 'आयारो' ऐसा आगम है, जिसका एक-एक वचन नये रहस्यो का खजाना है। इसका एक-एक मत्र शक्ति का स्रोत है। इसका एक-एक अक्षर जीवन-विकास का स्वर्णसूत्र है। कुछ सूत्रो पर ध्यान दें—

'समय तत्थुवेहाए अप्पाण विप्पसायए'

पुरुप समता का आचरण कर आत्मा को प्रसन्न करे। प्रसन्नता का अर्थ है निर्मलता। आत्मा निर्मल हो जाए तो समता का आचरण सहज हो जाता है और समता की स्थिति मे निर्मलता स्वय प्रकट होती है। प्रारभ मे समता की साधना

होती है सहिष्णुता के अभ्यास से। जो सहन करना नही जानता, वह सम नही रह सकता।

'पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि'

पुरुष ! आत्मा का ही निग्रह कर। इस प्रकार तू दु ख से मुक्त हो जाएगा। दु ख मुक्ति का सबसे सरल उपाय है आत्मनिग्रह। निग्रह का अर्थ दमन नही है। दमन मे विवशता होती है, बाध्यता होती है। निग्रह विवेक से होता है।

'आयाणं निसिद्धा सगडब्भि'

जो कर्मों के उपादान को रोकता है, वह अपने कृत कर्मों का भेदन करने वाला होता है। जब तक उपादान उपस्थित रहता है, छोटा-सा निमित्त मिलते ही कर्मों का आकर्षण हो जाता है। निमित्त कारण काम करते है पर मूल होता है उपादान। मिट्टी उपादान है। वह नही होगी तो कुम्भकार, चाक, डोरी आदि सहायक सामग्री मिलकर भी घड़ा नही बना सकेगी। बीज वृक्ष का मूल कारण है। वह नही होगा तो उर्वरा धरती भी फसल नही उगा सकेगी।

कर्मों का उपादान है प्रमाद और योग। जब तक प्रमाद होता है, जीव बंधता रहता है। योग भी जीव को बाधता है। बंधन को तोड़ने के लिए व्यक्ति को बहुत सहना पडता है। सहिष्णुता अमोघ मत्र है सफलता का, अस्तित्व का और व्यक्तित्व-निर्माण का। हर मनुष्य सहना सीखे और अपने अस्तित्व पर मडराने वाले खतरो से बचे। यही उसके लिए श्रेयस का रास्ता है।

३. तलहटी से शिखर तक पहुंचने का उपाय

मनुष्य ज्ञानी होता है। पर उसके ज्ञान की सीमाए हैं। उसके सामने ज्ञातव्य तत्त्व अनन्त हैं और ज्ञात तत्त्व सीमित है। अज्ञात को ज्ञात करने के लिए वह पुरुषार्थ करता है। अप्राप्त को पाने की दिशा मे उसका प्रस्थान होता है। वह दूसरो को देखता है और उनको प्राप्त सुख-सुविधा, वैभव, प्रतिष्ठा आदि देखकर अपने आपको वौना अनुभव करता है। इसी अनुभूति को अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है—

अधोऽधो पश्यत· कस्य महिमा नो गरीयसी।
उपर्युपरि पश्यन्त सर्व एव दरिद्रति॥

जो व्यक्ति अपने से निम्न स्थिति वाले लोगो को देखता है, उसे अपने वडप्पन का दर्शन होता है। अपने से ऊची स्थिति वालो को देखकर सभी व्यक्ति दरिद्र की तरह आचरण करने लगते है। ये दोनो ही स्थितिया विकास मे वाधक हैं।

कुछ लोगो का स्वभाव होता है कि वे दूसरो की शान-शौकत, धन-वैभव, सुख-सुविधा आदि को देखकर ईर्ष्या से भर जाते हैं। वे चाहते है कि उनके पास भी वैभव हो, उन्हे भी शान-शौकत से रहने का मौका मिले, उनकी भी समाज मे प्रतिष्ठा हो। यह सोच अस्वाभाविक नही है। पर इस सोच के साथ पनपने वाली स्पर्द्धा और ईर्ष्या की भावना वाछनीय नही हो सकती।

धर्म का क्षेत्र लालसा और ईर्ष्या से मुक्त रहे, यह आवश्यक है। पर मनुष्य ने इस क्षेत्र की पवित्रता को भी प्रदूषित किए विना नही छोडा। अपने जीवन मे ऊचा उठने, विकास करने या कुछ वनने की कामना कोई भी कर सकता है। ऐसी कामना तभी पूरी हो सकती है, जव उसके अनुरूप पुरुषार्थ हो। विकास के पथ पर अग्रसर व्यक्तियो की लगन, काम करने की शैली और वैसी साधना या तपस्या की जाए तो व्यक्ति कही से कही पहुच सकता है। शिखर पर पहुचने वाले लोग भी साधारण व्यक्तियो मे से ही होते हैं।

ब्राह्मणकुमार दस्यु सम्राट वना

एक ब्राह्मण-पुत्र कुसगति के कारण चोर वन गया। चोरी-डकैती करते-करते वह उस क्षेत्र का प्रसिद्ध हत्यारा वन गया। लोग उसके नाम से कापने लगे। परिवार और समाज के लोग उसे समझाकर हार गए। वह किसी की वात नही सुनता। परिवारवालो ने उसकी उपेक्षा की। उसका परिणाम भी उल्टा आया। वह घर छोडकर भाग गया और एक दस्यु गिरोह मे जा मिला। पल्लीपति ने उसके शौर्य और साहस को देख उसे गिरोह का नेता वना दिया। नेता वनने के वाद उसका आतक और अधिक वढ गया। उसकी तलवार खून से सनी रहती। वह किसी पर प्रहार करने से चूकता नही था। उसका प्रहार इतना दृढ़ होता कि सामने वाला व्यक्ति एक ही वार मे धराशायी हो जाता। लोगो मे उसकी प्रसिद्धि दृढप्रहारी नाम से हो गई।

दस्यु-सम्राट की अधीरता

एक वार दृढप्रहारी अपने साथियो के साथ कुशस्थल गाव मे गया। उसने गाव को लूटा। प्रचुर सपदा के साथ उसने साथियो को भेज दिया। वह स्वय सध्या के समय देवशर्मा ब्राह्मण के घर विश्राम करने ठहर गया। ब्राह्मण दपति ने अनजान मे उस दस्यु-सम्राट का आतिथ्य किया। भोजन कर दृढप्रहारी सो गया। प्रात काल ब्राह्मणी ने खीर वनाई। वह अपने वच्चो को खीर खिलाने की तैयारी कर रही थी। दृढप्रहारी ने दूर से गरम-गरम खीर देखी। उसका मन ललचा गया। वह ब्राह्मणी के अनुरोध की प्रतीक्षा नही कर सका। सहसा वह उठा और रसोईघर मे पहुच, खीर के पात्र के पास जाकर वैठ गया। ब्राह्मणी को यह अच्छा नही लगा। वह वोली—'आप हमारे मेहमान हैं। हम आपको अच्छे ढग से भोजन कराते। आपने तो हमारी कुल-मर्यादा का ध्यान भी नही रखा। इस प्रकार विना वताए रसोई मे आना अच्छी वात नही है।'

क्रूरता की पराकाष्ठा

दृढप्रहारी अपने दल का नेता था। वह सुनना नहीं, सुनाना जानता था। ब्राह्मणी के शब्दो से उसके अह पर चोट हुई। वह क्रोध मे पागल हो गया। उसने तलवार हाथ मे ली और एक ही वार मे ब्राह्मणी के सिर को धड़ से अलग कर दिया। ब्राह्मणी चीख उठी। ब्राह्मण वाहर स्नान कर रहा था। वह ब्राह्मणी की चीख सुनकर दौड़कर आया। दृढप्रहारी ने उसको भी मौत के घाट उतार दिया।

वच्चे उस भयावह दृश्य को देख रोने-विलखने लगे। इस हलचल ने घर मे वधी गर्भवती गाय को चौका दिया। वह रस्सी तुडाकर उस अपरिचित व्यक्ति को मारने दौडी। दृढप्रहारी ने उस पर भी गहरा प्रहार दिया। गर्भस्थ वछडा विंधकर अलग जा पडा। गाय वही ढेर हो गई। ब्राह्मण के घर का दृश्य अत्यन्त कारुणिक हो गया।

कुछ वनने की प्रेरणा

ब्राह्मण के घर मे जो घटना घटित हुई, आसपास रहने वाले लोगो को उसकी जानकारी मिली। डाकू दृढप्रहारी के प्रति उनके मन मे भी प्रतिशोध था। उसने उनको भी कई वार सताया था। वे सव मिल उसे पकडने के लिए दौडे। किन्तु वह अपराध कर भागने मे इतना दक्ष था कि एक वार भी पकड मे नही आया। इस वार भी वह वचकर निकल गया। दौडता-दौडता वह जगल मे पहुच गया। लोग निराश हो लौट गए।

जगल मे एक साधु ध्यान कर रहा था। दृढप्रहारी ने उसको देखा और कहा—'अरे मोड! यहा क्या करते हो? धर्म सुनाओ।' साधु को वोलना उचित नही लगा। उसने आखें खोली। अपनी जघाओ पर हाथ रखा और कहा—'शम, संवेग, निर्वेद।' इस प्रयोग से वह आकाश मे उड गया।

दृढप्रहारी ने यह दृश्य देखा। वह मन-ही-मन सोचने लगा—'यह साधु तो वडा शक्तिशाली है। इसके पास अद्भुत विद्याएं हैं। यह आकाश मे उडने की विद्या मुझे मिल जाए तो मजा आ जाए।' ऐसा सोचकर वह साधु जिस मुद्रा मे खडा था, उसी मुद्रा मे खडा हो गया। उसने उन शव्दो को दोहराया। पर वह उड नही सका। उसने साधु का वेश पहनकर वह क्रिया दोहराई। कोई परिणाम नही आया। इस असफलता ने उसको वेचैन कर दिया। वह उड गया, मैं क्यो नही उड सका? इस प्रश्न का समाधान खोजता-खोजता वह गहराई मे उतर गया। चोरी, डाका, हत्या सव कुछ भूल वह खडा रहा। उसके सिर पर धूप आई, उसे पता नही चला। पावो पर चीटिया चढ गईं। जगली जीव-जन्तु उसे सताने लगे। पर वह सवको सहन करता रहा। आत्मलीनता की स्थिति मे उसको जातिस्मृति ज्ञान हो गया।

सम्यक् दृष्टि से वदली जीवनधारा

दृढप्रहारी के जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। उसे अपने पिछले जीवन पर गहरा अनुताप हुआ। वह उस साधु को आदर्श मान अन्त करण से साधना करने

लगा। एक दिन ऐसा आया जब वह उस साधु की तरह लब्धि-सम्पन्न साधु बन गया। यह कहानी है। पर कल्पित नही, सच्ची कहानी है। यह कहानी कहती है कि इस ससार मे पतित-से-पतित व्यक्ति पावन हो सकता है। नीचे खड़ा व्यक्ति शिखर पर चढ़ सकता है। असम्भव-सा लगने वाला काम सम्भव हो सकता है। शर्त एक ही है कि सही दिशा में पुरुषार्थ का सम्यक् प्रयोग हो।

सीख एक डाकू की

मनुष्य संस्कारवश, परिस्थितिवश या कुसंगवश गलत रास्ते पर चला जाता है। उस रास्ते पर चलता-चलता वह ऐसी परिस्थितियो से घिर जाता है कि चाहकर भी लौट नही सकता। भूरासिंह नाम का एक कुख्यात डाकू हुआ है। एक दिन वह अकेला कही घूम रहा था। दो-चार वदमाश युवक वहा पहुच गए। वे उसका कुर्त्ता खोलने लगे। वह वोला—'तुम लोग शायद मुझे पहचान नही पाए। मैं डाकू भूरासिंह हूं।' भूरासिंह का नाम सुनते ही वे कांप उठे।

डाकू वोला—'डरो मत। मेरी वात सुनो। तुम लोग इस उम्र में ऐसी हरकतें कर रहे हो, तुम्हारा जीवन वरवाद हो जाएगा। तुम्हारे सामने मैं उदाहरण हूं। मैं डाकू वनकर वरवाद हो गया। मैं चाहता हू कि मैं अच्छा वनू, पर वन नही सकता। तुम भी वाद मे पछताओगे। जाओ, आज यह कुर्ता ले जाओ। भविष्य मे ऐसी गलती नही करना। इस घटना से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो व्यक्ति अपनी वुराई को वुराई समझता है, वह किसी दूसरे को उसमे लिप्त देखना नही चाहता।

जिसके पास दोनो आखें नही होती

मनुष्य के सामने अच्छाई भी होती है, वुराई भी होती है। वह उनमे से किसका चुनाव करता है, यह उसके विवेक पर निर्भर करता है। विवेकी व्यक्ति वुरे लोगो को देखकर भी अच्छाई सीख लेता है। वीरवल से पूछा गया कि तुम इतने चतुर कैसे वने? वीरवल ने उत्तर दिया—'मुर्खों को देखकर मैंने चातुर्य सीखा है।' जिन व्यक्तियो की विवेक चेतना जाग्रत नही होती और जो विवेकी लोगो की वात नही सुनते, वे अच्छे लोगो के साथ रहकर भी वुराई के चगुल मे फस जाते हैं। इसी तथ्य को अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है—

एक हि चक्षुरमलं सहजो विवेक,
तद्वद्भिरेव ननु संवसतिर्द्वितीयम्।
एतद्द्वय भुवि चकास्ति न यस्य सोऽन्ध,
तस्यापमार्गचल ने खलु कोऽपराध.॥

मनुष्य के पास एक आख है उसका विवेक और दूसरी आख है विवेकी लोगो का सहवास। ये दोनो आखें जिसके पास नही होती हैं, वह व्यक्ति अन्धा होता है। अन्धा व्यक्ति यदि गलत रास्ते पर चलता है तो उसमे उसका क्या दोष है?

आवश्यकता इस वात की है कि मनुष्य अपने विवेक को जगाए और विवेकी लोगो का सम्पर्क करे। इसी क्रम से वह अपनी मजिल की दिशा मे आगे वढ सकता है।

४. सम्बन्धों का आईना : वदलते हुए प्रतिबिम्ब

संयोग का अंत वियोग में

हर मनुष्य एक व्यक्ति होता है। व्यक्ति होने पर भी वह समूह मे जीता है। यह दोहरापन उसे उलझन मे डाल देता है। कभी वह स्वयं को व्यक्ति अनुभव करता है, और कभी समूह का हिस्सा मानता है। समूह के साथ जुडने से उसे अनेक प्रकार की सुविधाएं मिलती हैं। पर वास्तव मे वह अकेला ही होता है। जव व्यक्ति किसी निमित्त से दु खी हो जाता है, किसी प्रियजन का वियोग उसे व्यथित कर देता है, उस समय, साधु-संत उमे सासारिक रिश्तो की नश्वरता का वोध देते हुए कहते हैं—

ससार के सारे सम्वन्ध औपचारिक हैं। आज मनुष्य जिसे अपना मानता है, कल वही उसका दुश्मन वन सकता है। यहा कौन व्यक्ति किसका अपना है ? आज वह जिसके साथ रह रहा है, दस वर्ष पहले वह कहा था, कौन जानता है ? सम्वन्धो का ताना-वाना वुना जाता है। जो वुना जाता है, एक दिन वह विखरता भी है। **'सयोगा विप्रयोगान्ता'**:—संयोग का अन्त ही वियोग मे होता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य स्वय को नितान्त व्यक्ति माने तो वह मूढता से उवर सकता है।

मेरापन मोह से उत्पन्न होता है

उपाध्याय विनयविजयजी ने एक काव्य लिखा है—'शान्तसुधारस भावना।' इसमे अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व आदि भावनाओ का हृदयग्राही विवेचन है। भौतिक परिवेश से घिरे हुए व्यक्ति को अध्यात्म की दिशा मे मोडने का यह एक सफल माध्यम है। एकत्व भावना मे व्यक्ति को उसके अकेलेपन का अनुभव कराने के लिए कहा गया है—

> एक उत्पद्यते तनुमान्, एक एव विपद्यते।
> एक एव हि कर्म चिनुते, सैकक: फलमश्नुते॥

मनुष्य अकेला आता है और वह अकेला जाता है। कर्मों का सचय वह अकेला करता है। उनका फल भी वह अकेला ही भोगता है।

एकाकीपन के सिद्धान्त को विस्मृत करने वाला व्यक्ति कहता है—मेरी मा है, मेरे पिता हैं, मेरे भाई हैं, मेरी वहनें है, मेरे मित्र है और मेरे सहयोगी हैं। एक अपेक्षा से ये सव है। इनकी अनुपस्थिति मे ससार चल ही नहीं सकता। पर इस वात को नही भूलना चाहिए कि यह मेरापन मोहजनित है, ममकारजनित है। ममकार का धागा टूट जाए तो मेरापन का भाव स्वय छूट जाए। अनात्मीय मे आत्मीय का अनुभव अकेलेपन की अनुभूति मे वाधक है।

दु ख का मूल है मेरापन

आत्मा के अतिरिक्त जड-चेतन जितने पदार्थ हैं, वे सव पर हैं, यह अनुभूति अध्यात्म की अनुभूति है। अध्यात्म को गौण कर पर मे आत्मभाव को जोडने वाले व्यक्ति कितने भारी हो जाते हैं, इसका चित्र खीचते हुए कहा गया है—

यस्य यावान् परपरिग्रहविविधममतावीवध ।
जलधिविनिहितपोतयुक्त्या पतनि तावदसावध ॥

जो व्यक्ति पर पदार्थो का सग्रह करता है और उनके प्रति होने वाली ममता का जितना वोझ ढोता है, वह उतना ही नीचे जाता है। समुद्र मे उतारे हुए जलपोत मे जितना भार होता है, वह उतना ही पानी मे डूवता है।

जो व्यक्ति स्वय को ससार-समुद्र मे डूवने से वचाना चाहता है, वह इस सचाई का अनुभव करे कि आत्मा अकेली है। उसके साथ जितने सम्वन्ध जुड रहे हैं, वे सव स्थापित हैं, कल्पित है। स्थापित सम्वन्धो को सहज मानकर उनमे ममत्व रखना स्वय को दु खी वनाना है।

दूसरे को अपना मानना दु ख का सवसे वडा हेतु है। यदि व्यक्ति किसी को अपना माने ही नही तो उसके जाने का दु ख क्यो हो ? सन्यासी के पास एक शोक-सतप्त परिवार आया। परिवार के सभी लोग व्यथित थे। व्यथा का कारण था उनके युवा पुत्र का वियोग। सन्यासी ने उनको ससार की नश्वरता का वोध दिया। कुछ दिन वीते। उस परिवार का मुखिया कही जा रहा था। मार्ग मे सन्यासी का आश्रम था। वह उससे मिलने गया। आश्रम मे जाकर उसने देखा कि सन्यासी रो रहा है। रोने का कारण पूछने पर वह वोला—'मेरी वकरी मर गई।' मुखिया ने कहा—'वाह ! वावाजी ! आप उस दिन हमको क्या कह रहे थे।' संन्यासी निश्वास छोडता हुआ वोला—'भाई ! तुम्हारा कहना सही है। उस दिन वेटा मेरा नही था। आज वकरी मेरी मरी है।' सन्यासी वकरी को अपनी नही मानता तो दु खी क्यो होता ?

संबंधों में सचाई भी है

एक ओर सबधो मे स्वार्थ का लेप है तो दूसरी ओर ऐसे प्रसग भी घटित होते हैं, जहा दो देह एक प्राणवाली स्थिति दिखाई देती है। उदाहरण के रूप मे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और उनके अनुज लक्ष्मण को उपस्थित किया जा सकता है। राम और लक्ष्मण मे परस्पर इतना एकत्व था कि वे एक-दूसरे के बिना रह भी नही सकते थे।

राम वनवास गए तो लक्ष्मण उनके साथ गए। राम और रावण के युद्ध मे लक्ष्मण को शक्ति लगी। राम पूरी रात रोते रहे और लक्ष्मण सोते रहे। मूर्च्छा टूटने पर लक्ष्मण से पूछा गया—'आपको कैसा अनुभव हो रहा है ?'

लक्ष्मण बोले—

ईषन्मात्रमहं वेद्मि, पूर्णं वेत्ति स राघव.।
वेदना राघवेन्द्रस्य, केवलं व्रणिनो वयम्॥

मैं थोडा-सा जानता हूं। पूरी बात जानने वाले राम हैं। मेरे शरीर पर व्रण अवश्य हुए है पर इनकी वेदना का अनुभव श्रीराम कर रहे हैं।

दो भाइयो के बीच यह गहरा तादात्म्य बताता है कि सम्बन्ध केवल स्वार्थ-प्रेरित ही नही होते, उनमे सचाई भी है। जिनके सामने ऐसी सचाई प्रकट होती है, वे सामूहिक जीवन की मूल्यवत्ता स्वीकार करते है।

अकेलापन और सामुदायिकता—दोनों सत्य है

भगवान महावीर ने हमको अनेकान्त दृष्टि दी। अनेकान्त दो सचाइयो के बीच का सेतु है। वह भी सच है और यह भी सच है, ऐसी समन्वय दृष्टि अनेकान्त से ही प्रसूत है। हम जो कुछ जानते है और कहते है, वह सत्यांश होता है। सत्य के अश को पूर्ण सत्य मानना धोखा है। सत्याश के प्रतिपादन मे अनेकान्त को समझ लिया जाए तो पूर्ण सत्य के अवबोध की दिशा मे प्रस्थान हो सकता है।

निश्चय की दृष्टि से मैं अकेला हू। दूसरा कोई भी मेरा अपना नही है। व्यवहार के धरातल पर खडा होकर देखता हूं तो प्रतीत होता है कि धर्मसघ के सात सौ साधु-साध्विया मेरे हैं। मैं इनके सुख मे सुखी होता हू और दु.ख मे दु खी हो जाता हूं। ऐसी मन.स्थिति मे मैं अकेला कहां रहा ?

सौराष्ट्र मे साधु गए। वहां उनको स्थान नही मिला, भोजन नही मिला। उन दिनो मैंने भोजन की मात्रा कम कर दी और विगय का प्रयोग वन्द कर दिया। साधुओं ने कारण पूछा। मैं मौन रहा। सौराष्ट्र से सवाद मिला कि साधुओ को स्थान उपलब्ध हो गया और भोजन-पानी की कठिनाई भी कम हो गई। इस संवाद

से मेरा मन आश्वस्त हुआ। भोजन का क्रम ठीक किया और साधुओ से कहा—'सघ के कुछ साधु कष्ट मे हो, उस समय मैं पूरा भोजन कैसे कर सकता हू ?'

पजाव मे आतकवाद की समस्या खडी हुई। वहा अनेक गावो, कस्वो और शहरो में कर्फ्यू के सवाद मिले। उन दिनो मैं लाडनू से जोधपुर चातुर्मास करने जा रहा था। मैंने भोजन मे विगय का उपयोग वन्द कर दिया। नागौर मे सव साधु-साध्वियो के सुख-सवाद मिले तव निश्चिन्त हुआ। कारण, जो सघ के अग हैं, आचार्य के हाथ-पैर हैं, उनकी पीडा या असुविधा का अनुभव आचार्य को नही होगा तो किसे होगा ? शरीर के किसी भी अवयव मे कोई पीडा होगी तो मस्तिष्क निश्चिन्त कैसे रहेगा ? पीडाशमन का उपाय तो उसे ही सोचना होगा।

अनेकान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य अकेला भी है और सामुदायिक भी है। इन दोनो स्थितियो के पीछे जो अपेक्षाए है, उन्हे समझ लिया जाए तो किसी प्रकार की उलझन नही हो सकती।

एकाकीपन मे मोक्ष नही होता

एक व्यक्ति अकेला साधना करता है। एक व्यक्ति सघ मे साधना करता है। दोनो मे सरल कौन है और कठिन कौन है ? इस प्रश्न का समाधान सापेक्ष दृष्टि से ही सभव है। कई दृष्टियो से अकेला रहना कठिन है। बीमारी, बुढापा जैसी अवस्थाओ मे व्यक्ति को सहयोग की अपेक्षा रहती है। अकेलेपन मे सहारा बनने वाला कोई नही होता। इस दृष्टि से सघवद्ध साधना मे सुविधा और निश्चिन्तता रहती है। समूह मे सहना वहुत होता है। सहनशीलता, परस्परता और सेवाभावना न हो तो समूह मे रहना काफी कठिन हो जाता है।

मोक्ष की साधना अकेलेपन और समूह—दोनो मे सभव है। पर एकाकीपन मे मोक्ष नही हो सकता। जिनकल्प की कठोर साधना करने पर भी सघ मे सम्मिलित हुए विना केवलज्ञान की उपलब्धि नही हो सकती। इस दृष्टि से सघवद्ध साधना का अतिरिक्त महत्त्व है।

धर्म का सूत्र यह नही है कि व्यक्ति अकेला रहता है या समूह मे। व्यक्ति कही भी रहे, वह ऐसा कोई काम न करे, जो किसी अन्य के द्वारा किए जाने पर स्वय उसके लिए प्रतिकूल हो—

श्रूयतां धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्॥

धर्म का सार सुनो और उसकी अवधारणा करो। जो कार्य अपने प्रतिकूल हो, उसे दूसरो के लिए मत करो।

वंचना का एक रूप

मनुष्य किसी से धोखा खाना नहीं चाहता पर वह दूसरो को धोखा देने की नयी-नयी चालें खेलता रहता है। एक ईसाई पादरी अपने धर्म का प्रचार करता था। वह आदिवासी क्षेत्रो मे गया। वहां के लोगो मे न शिक्षा थी, न सस्कार। पादरी को अवसर मिल गया। वह थोडी देर धर्म की चर्चा करता। उसके बाद अपने झोले से दो मूर्तियां निकालता। एक मूर्ति ईसा की, दूसरी मूर्ति राम की। दोनो मूर्तिया लोगो को दिखाकर पूछता—'आपको कौन तारेगा ? ईसा या राम ?' लोग वेचारे कुछ जानते नही। वे कहते—'आप ही वताइए। हमको कौन तारेगा ?'

पादरी एक वाल्टी मगाता। उसे पानी से भरता। दोनो मूर्तियो को वाल्टी मे छोड़ देता। राम की मूर्ति वाल्टी के तल में जाकर वैठ जाती। ईसा की मूर्ति सतह पर तैरती रहती। पादरी लोगो का ध्यान उन मूर्तियो की ओर आकृष्ट कर कहता—'जो स्वय डूवता है, वह दूसरो को कैसे तार सकता है ? राम मे थोडा भी राम होता तो वह क्यो डूवता ? देखो, ईसा तैर रहे हैं। आप लोग ससार-समुद्र को तरना चाहते है तो ईसा की शरण मे आ जाओ।' भोले-भाले लोग पादरी के वहकावे मे आकर ईसाई वनने लगे।

अग्नि-स्नान से होती है कसौटी

कुछ दिन वीते। वहा कोई सनातनी सन्यासी आया। उसने प्रवचन किया। प्रवचन में राम की महिमा गाई गई। कुछ लोग वोले—'राम की शरण में आने से क्या लाभ ? वह हमारा कल्याण नही कर सकता।' संन्यासी यह वात सुन चौका। हिन्दुस्तान के निवासियो मे श्री राम के प्रति अनास्था ! क्या हो गया इन सवको ? उसने सभा विसर्जित की। वह गाव के प्रमुख लोगो से मिला। उसे ईसाई पादरी के वारे मे जानकारी दी गई। समस्या का मूल सूत्र उसकी पकड़ मे आ गया।

दूसरे दिन उसने गाव वालो की विशेष सभा आयोजित की। सक्षिप्त प्रवचन किया और अन्त मे कहा—'हम किसी गुरु या भगवान की शरण मे जाए, उससे पहले परीक्षा करें, यह आवश्यक है। हमारे यहा जलस्नान से भी अधिक महत्त्व अग्निस्नान का है। आप लोग स्वयं परीक्षा करें और अपना रास्ता चुनें।'

लोगो का ध्यान एक वेदिका की ओर आकृष्ट कर उसने वहा आग जलाई और अपने झोले से राम ओर ईसा की मूर्तियां निकालकर अग्नि को समर्पित कर दी। ईसा की मूर्ति जलकर भस्मीभूत हो गई। राम की मूर्ति अग्नि मे तपकर चमकने लगी। लोगो ने फिर एक आश्चर्य देखा। सन्यासी ने कहा—'जो अपनी सुरक्षा नही कर सकता, वह आप लोगो को कैसे वचाएगा ? भगवान राम मे यह

सामर्थ्य है कि वे इस प्रज्वलित आग मे भी ज्यो के त्यो खडे है।' आदिवासी लोग ईसा के क्रास को फेंक राम की शरण मे आ गए।

लोगो ने सन्यासी से पूछा—'राम हमारे भगवान् है। पर वे वाल्टी मे डूब क्यो गए?' सन्यासी ने रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहा—'पादरी ने ईसा की मूर्ति लकडी की वनाई और राम की मूर्ति वनाई लोहे की। लोहा भारी होता है, वह पानी मे डूवेगा ही। उसने आप लोगो को धोखा दिया।' जलस्नान से क्षीण हुई राम की महिमा अग्निस्नान से पुन स्थापित हो गई। पादरी को इस घटना की जानकारी मिली। वह गाव छोडकर चला गया। भोले लोगो को धोखा देकर वह अपने पाव पसार रहा था। पर उसकी पोल खुल गई। उसे अपना मिशन वीच मे छोड भागना पडा।

५. समत्व के द्वार से नहीं होता है पाप का प्रवेश

मनुष्य पाप करता है, पर पाप के परिणाम से वचना चाहता है। मनुष्य धर्म का आचरण नही करता, पर धार्मिक कहलाना चाहता है, धर्म का फल पाना चाहता है। यह विसगति है। पाप कोई भी करे, किसी भी परिस्थिति मे करे, उसका परिणाम दु ख है। कोई सबके सामने पाप करता है, कोई छिपकर पाप करता है, इससे पाप के फल मे अन्तर नही आ सकता। दिन हो या रात, गांव हो या जगल, व्यक्ति अकेला हो या समूह मे, पाप सदा पाप रहता है। इस सत्य को जो समझ लेता है, वह कभी पाप नही कर सकता। आयारो का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है—

तम्हातिविज्जो परमं ति नच्चा।
समत्तदसी न करेइ पावं ॥

त्रिविद्य—तीन विद्याओ को जानने वाला परम—सत्य, निर्वाण या सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को जानकर समत्वदर्शी हो जाता है। समत्वदर्शी कभी पाप नही करता।

त्रिविद्य शब्द की अर्थयात्रा

त्रिविद्य कौन होता है ? तीन विद्याएं कौन-सी है ? इन प्रश्नो का उत्तर एक वाक्य मे नही मिल सकता। उस शब्द की अर्थयात्रा बहुत लम्बी है। यहां इसके कुछ अर्थों पर विचार किया जा रहा है—

- अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाला।
- अतीत का कर्म वर्तमान मे आता है और भविष्य तक पहुचता है, इस सत्य को जानने वाला।
- दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इस त्रिपदी को पाने वाला।
- उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रिपदी को जानने वाला।
- स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ की सीमा को समझने वाला।
- मजिल, पथदर्शक और पथ का सम्यक् अववोध करने वाला।
- देव, गुरु और धर्म की सम्यक् पहचान कर उन्हे स्वीकार करने वाला।

वामनावतार ने तीन पग भरकर पूरे ससार को माप लिया। अगस्त्य ऋषि ने तीन चुल्लू मे पूरे समुद्र को पी लिया। इसी प्रकार तीन विद्याओ का ज्ञाता ससार समुद्र का पार पा लेता है। दुर्लभ है उन विद्याओ की प्राप्ति और उपयोग।

कहां होता है परम का दर्शन

तिविज्जो का सस्कृत रूपान्तरण त्रिविद्य की तरह अतिविद्य भी हो सकता है। अतिविद्य वह होता है, जो सामान्य विद्याओ को अतिक्रान्त कर लेता है। उपनिषद की भाषा मे वह अपरा विद्या को प्राप्त कर परा विद्या के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो जाता है। अतिविद्य व्यक्ति परम को जान लेता है। परम क्या होता है? भगवद् गीता मे परम को देखने और जानने से होने वाली उपलब्धि का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिन ।
रसवर्ज रसोप्यस्य, पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥

जो व्यक्ति आहार का परित्याग कर देता है, उसके विषय समाप्त हो जाते है।

यहा आहार का सबध केवल भोजन के साथ नही है। इन्द्रियो द्वारा जिनका आहरण—ग्रहण होता है, वह आहार है। सीधे शब्दो मे कहा जाए तो इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का आहरण न करने से विषय छूट जाते हैं। पर सवाल यह है कि क्या विषय छूटने मात्र से आसक्ति छूट जाती है? विषयो के प्रति होने वाला रस समाप्त हो जाता है? पदार्थ के अभाव मे रस का भी अभाव हो जाए, मन खाली हो जाए, यह आवश्यक नही है। इसलिए रस को समाप्त करने का उपाय खोजना अपेक्षित है। पदार्थ के प्रति रस छोडने का अर्थ है, किसी दूसरे तत्त्व मे रस का अनुभव होना। गीता के अनुसार रस छूटता है परम को देखने से। कहा देखा जाए परम को? उसके लिए कही जाने की जरूरत नही, अपने भीतर देखने की अपेक्षा है। जो परम को देख लेते है, उन्ही के जीवन मे धर्म उतरता है।

कैसे-कैसे जगत् गुरु

जीवन मे धर्म का स्पर्श नही और अपने को धार्मिक मानना, ऐसी विडम्वना बहुत होती है। गाव मे जगत्गुरु के आगमन की सूचना सुन लोग एकत्रित हुए। एक शिष्य के साथ गुरु वैठे थे। लोगो ने पूछा—'महाराज! आपके शिष्य कितने हैं?' गुरुजी वोले—'शिष्य के नाम पर आज तक मुझे यही एक चेला मिला है।' एक व्यक्ति ने पूछा—'महाराज! इस एक शिष्य के आधार पर आप जगत्गुरु कैसे हुए?' सन्यासी कुछ वोला नही। वहा वैठे लोगो मे से एक बोला—'महाराज!

आप एक काम कीजिए। जो इकलौता शिष्य आपके साथ है, उसका नाम जगत् रख लीजिए। आप सही अर्थ मे जगत्गुरु हो जाएंगे।' एक ठहाके के बीच संन्यासी हतप्रभ-सा हो गया। ऐसे जगत्गुरु या ऐसे धार्मिक क्या अनुभव करेंगे, जिन्होंने परम को पहचानने का प्रयत्न ही नही किया।

अटकना मन का रूप मे

परम को देखने वाला समत्व को देख लेता है। समत्व का द्रष्टा कभी पाप नही करता। पाप से उपरत होना है तो समत्व का विकास करना ही होगा। समत्व की प्रज्ञा जागने के बाद मन की सारी वासना समाप्त हो जाती है। वासना समाप्त होने का फलित है—संसार भर की सब महिलाओं मे मां का दर्शन। जो सबको मा मान लेता है, उसके मन की धरती पर विकारो की पौध उग ही नही सकती। पूज्य कालूगणी रामायण की एक कहानी सुनाया करते थे। वह कहानी रोचक ही नही, बहुत शिक्षाप्रद भी है। उसे यहां उद्धृत किया जा रहा है—

राजा और मंत्री के बीच मित्रता का सम्बन्ध था। मंत्री की हैसियत से वह राजकीय व्यवस्थाओ के साथ जुड़ा हुआ था। मित्र होने के कारण वह राजा के व्यक्तिगत सुख-दुःख में पूरा सहभागी था। एक बार राजा और मंत्री साथ-साथ कही जा रहे थे। मार्ग मे उन्होंने एक रूपवती कन्या को देखा। प्रथम दर्शन मे ही दोनो का मन उसके रूप मे अटक गया। मत्री को यह पता नही कि राजा उस कन्या पर मुग्ध है और राजा को यह ज्ञात नही कि मत्री अपने मन मन्दिर में उसे बिठा चुका है। यदि राजा को थोड़ा-सा भी अहसास हो जाता तो वह उसको अपने अन्त:पुर मे ले जाने की बात ही नही सोचता। मंत्री ने सकोचवश कुछ कहा नहीं। राजा ने अपने मन की बात मत्री से कह दी। मंत्री ने अपने आपको संभाला और राजा के साथ उस कन्या का विवाह करा दिया।

मंत्री ने विवेक के साथ अपना मन कन्या से हटाना चाहा। पर वह उसमे ऐसा उलझ गया कि उसके विवेक ने जवाब दे दिया। अब वह क्या करे और अपने मन की बात किसे कहे? मन की बात मन मे रखने से मंत्री घुटन अनुभव करने लगा। उसे एक प्रकार से कैंसर-सा हो गया। उस अन्तर्व्रण के कारण उसका खाना-पीना, सोना, हास-विलास सब कुछ छूट गया। देखते-देखते उसका शरीर क्षीण होने लगा।

बीमारी का सही निदान

राजा ने मन्त्री के शरीर की हालत देख उसे वैद्य को दिखाया, चिकित्सा कराई पर कोई लाभ नही हुआ। लाभ कहा से हो? बीमारी का सही निदान भी नही हुआ था। मन्त्री को औषधि दी जा रही थी। किन्तु वह आधि की गिरफ्त मे

था। आधि का जन्म हुआ था उपाधि से। आज के मेडिकल साइस की भाषा मे उस बीमारी का नाम था साइकोसोमेटिक—मनोकायिक रोग। इस रोग का उत्स मन मे होता है और वह असर दिखाता है शरीर पर।

सघन चिकित्सा के बाद भी मन्त्री के स्वास्थ्य मे सुधार नही हुआ। राजा का ध्यान मूल रोग पर गया। वह समझ रहा था कि यह मानसिक रोग से पीडित है। उसने मन्त्री के मन को समझने का प्रयास किया। मन्त्री ने बात टालनी चाही। राजा ने आग्रह किया। मन्त्री मौन रहा। राजा ने अपनी सौगन्ध दिलाई। मन्त्री के सामने धर्मसकट उपस्थित हो गया। वह बोला—'राजन्! आप इस बात के लिए मुझे बाध्य न करें तो अच्छा है।' राजा ने कहा—'कुछ भी हो, तुम्हे अपना मन खोलना होगा।' मन्त्री दुविधा मे फस गया। 'इतो व्याघ्रस्ततस्तटी—एक ओर आत्मग्लानि, दूसरी ओर राजा का आदेश। आखिर वह आख बन्द कर बोला—'बात कहने की नही है, पर आप पूछते हैं तब बताता हू।' राजा ने उसको पूरी तरह से आश्वस्त किया तो वह बोला—'मेरे मन मे उस कन्या के प्रति आकर्षण है, जो आपके अन्त पुर को सुशोभित कर रही है।'

अपने प्रिय मित्र और मन्त्री के मुह से ऐसी अकल्पित बात सुनकर राजा एक क्षण के लिए भी विचलित नही हुआ। उसने सहज भाव से कहा—'ओह! इतनी छोटी-सी बात के लिए इत्ती बडी चिन्ता! लगता है, तुमने मुझे समझा ही नही। निश्चिन्त होकर घर जाओ। आज रात को नयी रानी तुम्हारे घर पहुच जाएगी।' मन्त्री ने स्वप्न मे भी नही सोचा था कि उसके जीवन मे ऐसा अवाछनीय प्रसग आएगा और राजा उसे इतनी सहजता के साथ स्वीकार कर लेगा।

परीक्षा महारानी की

मन्त्री को वचन देकर राजा रानी के पास पहुचा। असमय मे राजा को महल मे देख रानी को प्रसन्नता मिश्रित आश्चर्य हुआ। उसने आगमन का कारण पूछा। राजा ने उसको दूसरी बातो मे उलझा दिया। बात-ही-बात मे राजा बोला—'तुम मेरे आदेश का हृदय मे पालन करती हो?' रानी ने कहा—'यह भी कोई पूछने की बात है? मैंने आपके किस आदेश की अवहेलना की? मेरा तन-मन सब कुछ आप पर निछावर है। आपके लिए मै अपने प्राण देने के लिए तैयार हू। आपके मन मे यह सन्देह क्यो हुआ?'

राजा ने अपना रुख थोडा-सा कठोर करते हुए कहा—'कहने को तो बहुत लोग यही कहते है। किन्तु समय आने पर खरे कितने उतरते है? तुमको लेकर सन्देह जैसी कोई बात नही। पर कभी-कभी मन मे आता है कि मेरे निकटस्थ व्यक्तियो मे कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जो मेरे किसी भी आदेश को क्रियान्वित करने के लिए तैयार है।',

रानी कुछ समझ नही पा रही थी। राजा के द्वारा उसे किसी अनिष्ट की आशका भी नही थी। राजा के उस अप्रत्याशित प्रश्न ने उसके मन मे कुतूहल अवश्य पैदा किया। किन्तु वह पूरी तरह समर्पित थी। उसने कहा—'महाराज! मैं आपको कैसे विश्वास दिलाऊ? मेरी आत्मा की आवाज है कि आपके किसी भी आदेश को विफल नही होने दूगी।'

राजा इसी क्षण की प्रतीक्षा मे था। फिर भी उसने एक बार रानी को और कसना चाहा। उसने पूछा—'तुम सच कह रही हो?' रानी बोली—'मुझे कष्ट है तो इतना ही है कि आपको मेरी बात पर विश्वास नही हो रहा है। आप मुझे मौका दें। मेरी परीक्षा करें।' राजा बोला—'मुझे तुम पर भरोसा है। उस भरोसे के आधार पर ही तुमको आदेश देता हूं कि आज की रात तुम मन्त्री के घर पर रहो।'

रानी ने राजा का यह आदेश सुना तो वह निर्वाक हो गई। उसे तीव्र वज्राघात-सा अनुभव हुआ। वह कुछ कहे, इससे पहले ही राजा वहा से उठकर चला गया। रानी असमजस मे पड गई। मन्त्री के घर न जाए तो राजा के आदेश का अतिक्रण होता है। वहा जाए तो शील भंग की कल्पना मात्र से वह काप उठी। आखिर उसने सोचा—'जो होना है, वह होगा। मेरे जीवन मे ऐसा कोई हादसा घट गया तो मैं जीवित नही रह पाऊगी। राजा के आदेश का पालन न होने पर भी मेरा जीना व्यर्थ है।' दोनो ओर मौत की छाया देख उसने मन्त्री के घर जाने का निर्णय ले लिया।

मोह चिकित्सा का प्रयोग

सूरज अस्त हो गया। रात घिरने लगी। रानी भारी मन से अपने महल से बाहर आई। मन्त्री के घर पहुचने की सारी व्यवस्था राजा पहले ही कर चुका था। उस व्यवस्था का उपयोग कर रानी मन्त्री के घर पहुची। वह धड़कते दिल से सीढिया चढ़ने लगी।

उधर मन्त्री बेताबी के साथ रानी की प्रतीक्षा कर रहा था। एक ओर संकोच, दूसरी ओर उत्सुकता। उसके दिल की धडकनें तेज हो गई। वह अपने कक्ष मे चक्कर काटने लगा। उसे सीढियो पर रानी की पदचाप सुनाई दी। उसका रोम-रोम पुलक उठा। दरवाजे का परदा हटाकर रानी कक्ष मे प्रविष्ट हुई। मन्त्री की निगाहे उस पर जाकर टिकी और उसके भीतर कोई रासायनिक परिवर्तन हो गया। उसकी कामुकता ने भक्ति का रूप ले लिया। वह उल्लसित होकर बोला—'मातृस्वरूपा महारानी ने मेरी कुटिया को पावन कर मुझे कृतार्थ कर दिया। इस अकिंचन के द्वार पर आपका स्वागत है। आपने बड़ी कृपा की है। अब अधिक कष्ट न करें। आपकी इस कृपा से मैं उऋण नही हो सकूगा।'

महारानी ने मन्त्री की बात सुन राहत की सास ली। जान बची, लाखो पाए, वाली कहावत के अनुसार उसे जीवन मिल गया। भय और आशकाओ के दश से मुक्त हो, वह सीधी राजमहल लौट गई।

कब होता है परम दर्शन

महारानी आई और चली गई। मन्त्री अपने कक्ष मे अकेला रह गया। उसका मन ग्लानि से भर गया। उसके मन मे जीवन के प्रति वितृष्णा हो गई। मैं राजा को मुह दिखाने योग्य नही हू, इस चिन्तन के साथ उसने हाथ मे कटार ली। वह कटार को अपने सीने मे झोक ही रहा था कि पीछे से आकर किसी ने उसके हाथ थाम लिये। वह स्तब्ध रह गया। पीछे मुडकर देखा तो सामने राजा था। जिसे मुह नही दिखाना था, उसी से सामना हो गया।

मन्त्री रुआसा होकर बोला—'महाराज! अब मैं जीने लायक नही रहा। मुझे मरने दो।' राजा ने उसको समझाते हुए कहा—'ऐसी मूर्खतापूर्ण बात छोडो। पहले यह बात बताओ कि तुमने किया क्या? मैं जानता था कि रानी सामने आएगी तो तुम्हारे मन का पाप निकल जाएगा। तुम कोई गलत काम कर सकते हो, स्वप्न मे भी मुझे ऐसा आभास होता तो मैं रानी को नही भेजता। अब तुम जो गलती करने के लिए उद्यत हो रहे हो, उससे उपरत हो जाओ।'

मोह के उदय से मन्त्री का मन विकृत हुआ। राजा ने मोहचिकित्सा कर दी। मन्त्री स्वस्थ हो गया। रानी परीक्षा मे खरी उतरी। यह सब कैसे हुआ? यह सब त्रिविद्य बनने से हुआ, परम के दर्शन से हुआ। जो परम को देख लेता है, वह समत्व को देख लेता है। समत्व का दर्शन होने के बाद पाप असभव हो जाता है। **समत्तदसी न करेइ पावं'**—आयारो का यह सूक्त परम दर्शन की भूमिका पर ही अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है।

प्रश्न एक ही है कि परम दर्शन या समत्व-दर्शन कब घटित होता है? यह होता है समर्पण की भूमिका पर। समर्पण स्वार्थ के प्रति नही, चिदानन्द के प्रति हो, आत्मा के प्रति हो, परमात्मा के प्रति हो। जिस दिन सपूर्ण समर्पण होगा, उसी दिन परम दर्शन होगा। परम के प्रति समर्पण, परमदर्शन और समत्व का अनुभव साथ-साथ हो जाता है। इस स्थिति मे पाप के आगमन का स्रोत ही सूख जाता है।

६. क्या अरति ? क्या आनन्द ?

साधक वह होता है, जो कही उलझता नही, अटकता नही। उसे अनुकूलता मिलती है तो वह निस्पृह भाव से उसका उपयोग कर लेता है। उसके सामने प्रतिकूल परिस्थिति पैदा होती है तो वह अद्विष्ट मन से उसे सहन कर लेता है। इसी वात को ध्यान मे रखकर 'आयारो' मे कहा गया है—का अरई ? के आणदे ? एत्थंपि अग्गहे चरे—साधक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ? वह अरति और आनन्द के विकल्प को ग्रहण न करे। थोडे-से अक्षरों मे कितनी महत्त्वपूर्ण वात कही गई है। इसी का नाम है वाग्मिता। शब्द अधिक और सार कम हो, ऐसी वात मे उन लोगो को रस मिल सकता है, जिनकी समझ मोटी हो और जिनके पास करने के लिए विशेष काम न हो। आज मनुष्य की जीवनशैली जितनी तीव्रगामी है, वह कम समय मे अधिक काम समेटना चाहता है। यत्रो का आविष्कार इसी मनोभूमिका पर हुआ है। आश्चर्य की वात यह है कि यत्रयुग मे भी मनुष्य के पास धर्म या अध्यात्म के प्रयोग करने के लिए समय नहीं वचता।

स्वर्ग में जाने का रहस्य

जीवन एक प्रवाह है। प्रवाह वहता रहता है। नदी का जो पानी आज जिस स्थान पर है, कल वह वहा नहीं मिलता। मनुष्य का जीवन भी स्थिर कहा है ? मैंने अपने पचहत्तर वर्ष के जीवन मे निरन्तर इस प्रवाह को वहते देखा है। इस अवधि मे अच्छे-अच्छे लोग ससार मे आए और चले गए। अच्छे लोगो की भाति बुरे-बुरे लोग भी आए और चले गए। बुरे लोग जाते है तो पीछे रहने वाले शान्ति का अनुभव करते है। अच्छे व्यक्तियो के चले जाने पर हाहाकार मच जाता है।

गाव मे सेठ साहव की मृत्यु हो गई। एक वृद्धा अपने पोते-पोतियो से पूछ रही थी, सेठजी मरकर नरक मे गए है या स्वर्ग मे ? एक पन्द्रह वर्षीय

वालक ने कहा—'दादी ! कुछ समय प्रतीक्षा करो । मैं अभी जानकारी करके आता हू ।' वालक दौडा-दौडा गाव मे गया । वह वाजार मे इधर-उधर घूमा और घर लौट आया ।

दादी वच्चो से घिरी वैठी थी । सवकी उत्सुकता को विराम देता हुआ वह वोला—'सेठ साहव स्वर्ग मे गए हैं ।' दादी ने पूछा—'तुमने कैसे जाना कि सेठजी स्वर्ग मे गए हैं ।' वालक वोला—'दादी मा ! गाव के सभी लोग सेठ साहव की गुणगाथा गा रहे है । कुछ लोग तो उनका नाम सुनते ही रोने लगते हैं । वे कह रहे है कि सेठजी ने गाव के लिए कितने काम किए । उनके पास कोई भी व्यक्ति सहयोग की माग लेकर चला जाता, वह निराश नही लौटता । गरीवो के तो वे मसीहा थे । दादी ! ऐसे उदार और गुणी व्यक्ति स्वर्ग मे नही जाएगे तो कहा जाएगे ?'

दादी ने अपने पोते-पोतियो को प्रेरणा देते हुए कहा—'तुम लोग भी अपने जीवन मे कुछ विशेप काम करने का लक्ष्य वनाओ । मनुष्य का जीवन वहुत कीमती है । इसकी कीमत खेलकूद या मौज-मजा करने से नही चुकाई जा सकती । अच्छे और सच्चे आदमी वनने का सकल्प करो । यह सकल्प ही तुम्हे समाज और देश की सेवा के योग्य वना सकेगा ।'

आगमवाणी ले जाती है सत्य के निकट

अरति और आनन्द, दु ख और सुख, अशान्ति और शान्ति, पीडा और समाधि—ये युगल धूप और छाया की तरह निकट-निकट हैं । इनके छोर एक-दूसरे से जुडे हुए हैं । इसलिए लोगो को वहुत वडी भ्रान्ति हो जाती है । वे जिसे सुख मानते है, वह सुख नही है । जिस स्थिति मे वे दु ख की अनुभूति करते है, वह सही अर्थ मे दु ख नही है । पर उन्हे समझाए कौन ? समझाने पर वे समझ जाए, यह भी जरूरी नही है । एक ही उपाय है समझ को सही और परिपक्व वनाने का । वह उपाय है—**का अरई ? के आणदे ?** जैसे आगम के सूक्तो को वार-वार सुनना, उन पर मनन करना और उनकी सचाई का अनुभव करना ।

आगम-वाक्य सुनकर सव लोग तत्त्व का सम्यक् वोध कर सकें, यह भी सभव नही है । उर्वरा धरती पर पानी पडता है तो उसका उपयोग होता है । पत्थरो पर कितना ही पानी वरस जाए, वहा खेती नही हो सकती । कुछ मनुष्य भी ऐसे पापाण-हृदय होते है कि सस्कारो का कितना ही जल सीचा जाए, वे गीले नही होते । सस्कारवोध मे कहा गया है—

मुद्गशैल पाषाण ज्यों होते जो जन रूढ।
संस्कारी बनते नही बने-बनाए मूढ॥

मूगशैल पाषाण पर पुष्करावर्त मेघ बरसे, धारा सपात बरसे और निरतर सात दिनो तक बरसे फिर भी उसमे अणमात्र आर्द्रता नही आती। इसी प्रकार कई दिनो, महीनो और वर्षो तक सस्कारी बनाने का सघन प्रयत्न करने पर भी जो लोग सस्कार ग्रहण नही करते, उन्हे मूढ मानकर सन्तोष करना ही श्रेयस्कर है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस सत्य को दूसरे प्रतीक के माध्यम से अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है—

फूले फले न बेत, जदपि सुधा बरसहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम॥

बेंत को अमृत से सीचने पर भी वह फूलती-फलती नही। इसी प्रकार ब्रह्मा जैसे गुरु मिलने पर भी मूर्ख व्यक्ति के चित्त मे जागरणा नही हो सकती।

पकड छोड़ने से समाधान

ग्रहणशीलता एक ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति को बदलाव की दिशा मे प्रस्थित कर सकता है। मैं यह लक्ष्य रखता हू कि अच्छी बात कही से भी मिले, उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। इस वृत्ति से मुझे बहुत लाभ का अनुभव हुआ है। एक घटना का यहा उल्लेख कर रहा हू—

बहुत वर्षो पहले की बात है। मैं उपवास करता। उपवास ठीक हो जाता। पारणा कष्टप्रद होता। मैं उसका कारण नही समझ पाया। मैंने सोचा—'किसी अनुभवी श्रावक से बात करनी चाहिए।' सुजानगढ के श्रावक छगनमलजी सेठिया बहुत अनुभवी व्यक्ति थे। मैंने उनसे बात की। उन्होंने पूछा—'आप पारणा मे क्या लेते हैं?'

मैं सबसे पहले कच्चा पापड उसके बाद काली मिर्च और मिश्री ले लेता हू। फिर दूध-दलिया, मोगर-पापड आदि जो चीज उपलब्ध हो जाती है।

सेठियाजी ये चीजें आप कितनी मात्रा मे लेते है?

मैं : उपलब्ध हो तो पेट भरकर।

सेठियाजी यह क्रम ठीक नही है। अधिकांश लोग पारणा मे पहले दिन की कसर निकालना चाहते हैं। एक दिन ऊणा दूसरे दिन दूणा—इस प्रकार भोजन करना ठीक नही है।

मैं . पारणा का क्या क्रम होना चाहिए?

सेठियाजी केवल पाव भर दूध लेना चाहिए। इससे पेट हल्का रहेगा, मन प्रसन्न रहेगा और किसी प्रकार की कठिनाई नही होगी।

मैंने मन ही मन सोचा कि फिर पारणा ही क्या होगा ? इस सोच के वावजूद मैंने अपने पारणे का क्रम वदल लिया। उपवास की तरह पारणा भी ठीक होने लगा। ऐसा क्यो हुआ ? **एत्थपि अग्गहे चरे**—इस सूत्र को याद कर मैंने किसी प्रकार का आग्रह नही रखा, पकड नही रखी, मुझे समाधान मिल गया।

चिन्तन की ऊंचाई पर कष्टानुभूति का अभाव

कुछ ही लोग ऐसे होते है, जो भयकर कष्ट के समय भी रोते नही, सतुलित रहते है, शात रहते हैं और वातावरण को मोड दे देते हैं। सरदार-शहर के सेठ सुमेरमलजी दूगड इस सदर्भ मे एक उदाहरण हैं। उनका पुत्र भवरलाल दूगड युवावस्था मे एक दुर्घटना मे चल वसा। भवरलाल अपने ढग का एक ही व्यक्ति था। इतना होनहार। इतना लोकप्रिय। उसके आकस्मिक निधन पर सारा शहर रोया होगा पर उसके पिता नही रोए। क्यो ? उन्होने धर्म को समझा, जीवन को समझा, महावीर की वाणी को समझा। इस समझ के कारण उनका चिन्तन वदल गया। कुछ लोगो ने उनसे पूछा—'सेठ साहव ! आप रोते क्यो नही ? एक वार खुलकर रो लें अन्यथा हार्ट पर दवाव पडेगा।'

सेठजी मुझे रोना आता ही नही, मैं कैसे रोऊ ?

लोग सेठ साहव ! आप सकोच न करें। ऐसे समय मे रोने से मन हल्का हो जाता है।

सेठजी मैं सच कहता हू, मुझे रोना नही आता।

लोग क्या आपको दु ख नही होता ?

सेठजी दु ख किस वात का ? मैं धर्म को समझता हू और यह मानता हू कि सयोग की परिणति वियोग मे होती है। भवरलाल जैसा लडका मेरे घर मे आया और इतने वर्षो तक रहा। इस वात की मैं खुशी मनाऊ या दु ख करू ?

जो व्यक्ति चिन्तन की इस ऊचाई तक पहुच जाते है, वे किसी भी स्थिति मे दु ख का गहरा सवेदन नही करते।

सुख दु.ख में बदल गया

सेठ साहब शाही शान के साथ अपने शहर की ओर जा रहे थे। रास्ता लम्बा था। सूर्य अस्त होने को था। रात्रि-कालीन विश्राम के लिए वे धर्मशाला मे ठहरे। उनके साथ कई नौकर-चाकर थे। सुविधा की दृष्टि से उन्होने धर्मशाला के ऊपर की मजिल किराये पर ले ली। वे निश्चिन्त होकर विश्राम कर रहे थे।

नीचे की मंजिल मे अनेक यात्री थे। उनके बीच एक कमरे मे एक बालक रात बिताने के लिए ठहरा हुआ था। उसके साथ दो मुनीम थे। सूर्यास्त के साथ ही बालक के पेट मे दर्द उठा। कुछ समय तक वह उसे सहन करता रहा। इधर सेठ साहब के सोने का समय हुआ, उधर बालक का दर्द बढा। वह कराहने लगा। सेठजी की नीद मे बाधा होने लगी। उन्होने अपने नौकरो से कहा—'यह कौन चिल्ला रहा है ? इसे समझाओ।' नौकर दौडे-दौडे गए और बोले—'सेठ साहब सो रहे है। यहां किसी प्रकार का हल्ला नही होना चाहिए।' मुनीम ने कहा—'हल्ला कौन कर रहा है ? बच्चा पीडा से कराह रहा है।' नौकर बोले—'इसे कोई गोली-गुटका देकर सुला दो।'

गोली देने से थोडी देर बालक को राहत मिली। कुछ समय बाद फिर पेट मे शूल चलने लगी। वह चुप नही रह सका। उसकी चीख सुनकर सेठजी को गुस्सा आ गया। वे बोले—'कौन मूर्ख है, जो नीद मे व्यवधान डाल रहा है। हम दिन भर के थके-मादे यहां विश्राम करने के लिए आए है। इसे कितनी बार समझा दिया, पर मानता ही नही है। उसे फिर समझाओ।'

बालक पीडा से कराह रहा था। चुप रहना उसके वश की बात नही थी। मुनीम भी क्या कर सकते थे। उन्होने अपनी विवशता प्रकट की तो सेठ के नौकरो ने कहा—'इसे बाहर ले जाओ।' मुनीमो ने अनुनय-विनय किया। पर उनकी एक भी नही सुनी गई। आधी रात के समय वे अपने मालिक के बच्चे को उठाकर धर्मशाला के बाहर बरामदे मे आकर बैठ गए। बालक का कराहना बन्द नही हुआ, पर वह सेठजी को सुनाई नही दे रहा था। वे गहरी नीद मे सो गए। इधर बालक की पीडा बढी। उसने सूर्योदय से पहले ही दम तोड दिया।

प्रात.काल सेठजी उठे। कुछ याद करते हुए बोले—'रात वह कौन रो रहा था ?' नौकरो ने कहा—'कोई बालक था। उसे यहा से निकाल दिया।' सेठजी बोले—'अब वह कहा है ? क्यो रो रहा था ?' नौकर नीचे गए। बालक का पता लगाया। वह मर चुका था। उसका परिचय मागा गया तो जानकारी मिली कि वह सेठजी के गांव का रहने वाला है। नौकरो ने सेठजी

को सारी वात सुना दी । गाव के लडके की मौत का सवाद सुन सेठजी स्वय नीचे गए । उन्होने मुनीमो से पूछताछ की । वच्चे के माता-पिता का नाम पूछा । नाम मुन वे चौकन्ने हो गए । वह तो उनका ही अपना लाडला वेटा था । जिमे दो माह का छोड वे व्यवमाय के लिए चले गए थे । उसी वेटे को देखने के लिए तो वे घर जा रहे थे ।

वात यो हुई कि सेठ साहव को परदेश गए वहुत वर्प हो गए । सेठानी उनकी याद मे रोने लगी । लडके ने रोने का कारण पूछा । सेठानी ने कहा—'तेरे पिताजी तुझे दो माह का छोडकर गए थे । पूरे वारह वर्प हो गए । वे अभी तक नहीं लौटे ।' लडके ने मा को आश्वस्त करते हुए कहा—'मा ! मैं जाता हू और पिताजी को साथ लेकर आता हू ।' सेठानी ने दो नये मुनीमो को उसके साथ भेज दिया । वे तीनो धर्मशाला मे रात भर विश्राम करने के लिए ठहरे थे ।

उधर सेठ माहव को भी घर, वच्चे और पत्नी की याद आई । वे वहुत-सा मामान माथ लेकर चले । रात्रि विश्राम के लिए उन्होने वही धर्मशाला चुनी । ऊपर चढते समय मुनीमो और उस वालक पर उनकी दृष्टि गई । पर वे आपम मे किमी को पहचान ही नही मके । मयोगवश रात को यह घटना घट गई । सेठजी को पूरी जानकारी मिली तो उनका कलेजा वैठ गया । वे दीवार पर सिर पटक कर रोने लगे । रात भर वालक पीडा से कराहता रहा और मेठजी सुखपूर्वक सोते रहे । जव वालक शान्ति से चिरनिद्रा मे सो गया तो सेठजी कराह उठे । यह है मसार का चित्र । यहा क्या सुख है और क्या दुख है ? कुछ समझ मे ही नही आता । सुख-दुख की कल्पना ने मनुष्य को पागल वना दिया । इमीलिए आयारो कहता है—**का अरई ? के आणदे ? एत्थपि अग्गहे चरे ।**

७. विवेक संवारता है आचार को

नाथेयं घट्यमानापि दुर्घटा घटतां कथम्।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु परमा चोपकारिता॥

हे नाथ! घटना घटित हो रही है, फिर भी यह दुर्घट-सी क्यो लगती है? एक ओर आपके मन मे सब जीवो के प्रति उपेक्षा का भाव है। दूसरी ओर आपका अन्त.करण परम उपकार की भावना से द्रवित है। उपेक्षा और उपकार-परायणता का आपस मे क्या संबंध हो सकता है?

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्य मे दो विरोधी शब्दो का प्रयोग किया है—उपेक्षा और उपकारिता। उपेक्षा का सीधा-सा अर्थ है लापरवाही। लापरवाही किसी के प्रति हो, वहा उपकार की बात घटित नही हो सकती। उपकार का भाव तभी जागता है, जब लापरवाही छूटती है। ऐसी स्थिति मे परम उपकार और उपेक्षा की सगति नही बैठ पाती। इसी भूमिका पर काव्यकार ने भगवान महावीर के जीवन की दुर्घट घटना का उल्लेख किया है।

आचार का स्वरूप

जैन आगमो मे आचार का विवेचन है। आचार क्या है? ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—आचार के ये पाच प्रकार हैं। ज्ञान के अर्जन और प्रत्यावर्तन के समय का ध्यान रखना, उच्चारण शुद्धि के प्रति सावधान रहना, शास्त्रो का अध्ययन करते समय तपोमय अनुष्ठान करना आदि ज्ञान के आचार हैं। देव, गुरु, धर्म के प्रति नि.शकित रहना, बाह्य आकर्षण मे उलझकर परमत की आकांक्षा नही करना, साध्य तथा साधना के फल मे सन्देह नही करना आदि दर्शन के आचार हैं। महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्र के आचार हैं। अनशन, ऊनोदरी, ध्यान आदि तप के आचार हैं। पूर्व चर्चित चार आचार की आराधना मे परम पुरुषार्थ का प्रयोग करना वीर्य का आचार है।

आचार का एक रूप है उपेक्षा। यहां उपेक्षा का अर्थ लापरवाही नही है। लापरवाही किसी भी धर्म का आचार नही हो सकता। सर्वशक्ति सपन्न वीतराग किसी भी व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति लापरवाही वरते, यह असभव वात है। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग की स्तुति मे जिस उपेक्षा का उल्लेख किया है, उसका अर्थ है समता। ससार के सव प्राणियो के प्रति समता रखना जैन मुनि का उत्कृष्ट आचार है।

अहिंसा और समता एक है

जैन मुनि चारित्र के आचार की आराधना करता है। अहिंसा चारित्र का प्रतीक है। इसका सवध हिंसा विरति के साथ है। शस्त्र हिंसा है। अशस्त्र अहिंसा है। मैत्री, करुणा, सयम, आत्मतुला, समता—ये सव अहिंसा के पर्याय शब्द है। ये सभी शब्द सार्थक है और अहिंसा के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्ति देने वाले हैं।

सव प्राणियो के प्रति उपेक्षा—समता रखने का फलित है किसी भी प्राणी के लिए शस्त्र नही वनना। शस्त्र वह वनता है, जो असयत होता है। शस्त्र वह वनता है, जो क्रूर होता है, शस्त्र वह वनता है, जो प्राणी-प्राणी मे भेद समझता है। क्रूरता, शत्रुता, विषमता आदि की पृष्ठभूमि पर ही व्यक्ति शस्त्र वनता है। कोमलता, मित्रता, सयम आदि के साथ शस्त्र का अवस्थान नही हो सकता। परिपूर्ण सयम की साधना करने वाला ससार के छोटे-वडे सभी प्राणियो को अभय वना देता है। वह माता-पिता आदि स्वजनो के लिए तो अशस्त्र वनता ही है, शत्रुभाव रखने वालो के प्रति भी शस्त्र नही वनता।

माता-पिता के लिए शस्त्र

शत्रु के लिए शस्त्र वनने या शस्त्र उठाने की वात समझ मे आती है। माता-पिता के लिए कोई भी व्यक्ति शस्त्र कैसे वन सकता है ? इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो स्थूल दृष्टि से उक्त तथ्य मे सचाई का आभास होता है। किन्तु सूक्ष्मता मे पहुचे विना सत्य का वोध नही हो सकता। हर एक व्यक्ति मे इतनी क्षमता भी नही होती कि वह सूक्ष्म दृष्टि से देख सके और सचाई को पकड सके।

जैनधर्म के अनुसार शस्त्र दो प्रकार के होते हैं—वाह्य और आन्तरिक। भाला, वरछी, तलवार, वन्दूक, वम आदि वाह्य शस्त्र है। आन्तरिक शस्त्र है राग और द्वेष। शत्रु के प्रति द्वेषभाव जागता है और माता-पिता के प्रति

रागात्मक अनुवन्ध रहता है। द्वेष जितना घातक है, राग उससे कम घातक नही है। जब तक व्यक्ति राग-द्वेष की प्रेरणा से प्रवृत्ति करता है, वह अशस्त्र नही वन सकता। अशस्त्र वनने के लिए मोह के चक्रव्यूह को भेदना आवश्यक है।

औचित्य का मापक अन्त करण

कौन व्यक्ति कितना अशस्त्र है? कितना आचारवान है? इसकी प्रामाणिक कसौटी वह स्वयं वन सकता है। हर कोई व्यक्ति अपने आचार की कसौटी का दायित्व स्वय पर ओढ ले, यह वात व्यावहारिक नही है। महान् व्यक्तियो के लिए यह कहा जाता है कि उनका अन्त करण जिस तथ्य का साक्ष्य वने, वह गलत नही हो मकता।

राजा दुष्यन्त घूमता-घूमता ऋषि कण्व के तपोवन मे पहुचा। वहा उसने कण्व की पालिता पुत्री शकुन्तला को देखा। शकुन्तला को देखते ही उसके मन मे आकर्षण जागा। राजा शकुन्तला के निकट पहुंचा। उसका मन अनुराग से भर गया। इस स्थिति से राजा के मस्तिष्क को एक झटका-सा लगा। अनजान कन्या के प्रति मन मे जगे विकारभाव ने उसको अनुताप से भर दिया। वह सोचने लगा—यह कन्या कौन है? मैं क्षत्रिय हू। क्षत्रिय किसी क्षत्रियपुत्री को ही स्वीकार कर सकता है। यदि यह क्षत्रियपुत्री नही है तो मैं महान् पाप का भागी वनूगा। इस चिन्तन के वाद भी उसका आकर्पण नही टूटा। शकुन्तला को देखने की ही नही, पाने की ललक थोडी भी कम नही हुई। उमने आखें वन्द की। इष्ट का स्मरण किया। अपनी मनोदशा के औचित्य पर विचार करना शुरू किया। राजा दुष्यन्त की उस समय की मन.स्थिति का चित्रण करते हुए महाकवि कालिदास ने लिखा—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा, यदार्यमस्यामभिलापि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेपु वस्तुपु, प्रमाणमन्त.करणप्रवृत्तय.॥

मेरा आर्य मन इस कन्या को पाने के लिए आतुर हो रहा है तो असदिग्ध रूप से यह क्षत्रिय कन्या होनी चाहिए। क्षत्रिय कन्या होने के कारण यह क्षत्रिय की पत्नी वनने योग्य है। महान व्यक्तियो के मन मे अपनी किसी प्रवृत्ति को लेकर सन्देह खडा हो जाए तो उसका निराकरण करने के लिए किसी अन्य संवादी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। उनका अपना अन्त·करण ही उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य के औचित्य का मापक वनता है।

छलना और अज्ञान भी शस्त्र है

कुछ लोग ऐसे है, जो दूसरो के आचार या व्यवहार की समीक्षा करने मे रस लेते है। किन्तु वे अपने आचरण को अनदेखा छोड देते है। अपने और दूसरे के प्रति यह भेदभरा नजरिया सही स्थिति के अववोध मे वाधक वनता है। मनुष्य को तटस्थ दृष्टि से देखना चाहिए कि वह जो कुछ कर रहा है, सदाचार है या नही ? मन से छिपे चोरी नही होती। मन मे कुछ और हो तथा दिखाए कुछ और, यह छलना है। छलना भी एक शस्त्र है। इस शस्त्र से किसी अन्य व्यक्ति की घात होती है या नही, इसका प्रयोग करने वाला स्वय आहत हो जाता है।

अज्ञान भी एक शस्त्र है। इसके दोहरी धार होती है। अज्ञानी स्वय कष्ट पाता है और दूसरो को सकट मे डाल देता है। ज्ञानी होने का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान या उपाधिया हासिल करने से नही है। ज्ञानी वह होता है, जिसकी प्रज्ञा जागती है, अन्तर्दृष्टि खुलती है। ढेर सारी जानकारियो के आधार पर व्यक्ति ज्ञानी वनता तो ससार मे ज्ञानी लोगो की भीड लग जाती। स्थिति यह है कि वहुत खोज करने पर भी मुश्किल से कुछ व्यक्ति ऐसे मिलते हैं, जो ज्ञानी होने का गौरव पा चुके है।

अभी प्रमाणपत्र नही

तीन भाई गुरुकुल मे पढते थे। वारह वर्प तक वे पढे। पढाई पूरी हुई। परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गुरु का आशीर्वाद लेकर वे अपने गाव आए। घर पहुचकर उन्होने माता-पिता के चरण छुए। उन्होने उनका स्वागत किया और कुशल-क्षेम पूछा। तीनो भाइयो ने पूरे उत्साह के साथ गुरुकुल के सस्मरण सुनाए और अपने उत्तीर्ण होने की शुभ सूचना दी। पिता उनकी एक यात्रा की सपन्नता पर खुश हुआ। पर वह उनको जीवन की अन्तरग यात्रा मे सफल देखना चाहता था। उमने पुत्रो को सम्वोधित करते हुए कहा—'तुम गुरुकुल से उत्तीर्ण होकर आए हो, यह प्रसन्नता का विपय है। अव तुमको एक परीक्षा और देनी है। जव तक उस परीक्षा मे उत्तीर्ण नही हो जाओगे, दक्षता का प्रमाणपत्र नही मिलेगा।'

तीनो भाई उत्सुक होकर वोले—'पिताजी ! वह कौन-सी परीक्षा होगी ? उसके लिए हमे क्या तैयारी करनी है ? परीक्षा कव होगी ? कैसे होगी ? परीक्षक कौन होगा ?' पिता ने कहा—'पुत्रो ! इस वात मे तुम उलझो मत। तुम्हारी यह परीक्षा मैं स्वय लूगा। किसी समय, किसी स्थान पर, किसी भी

ढंग से यह परीक्षा ली जा सकती है।' तीनो भाई एक अजीव-सी ऊहापोह मे परीक्षा के दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

परीक्षा की नयी शैली

एक दिन पिता ने तीनो पुत्रो को अपने पास बुलाकर कहा—'आज तुम्हारी परीक्षा होने वाली है।' पुत्रो ने पूछा—'हमे क्या करना है ?' पिता ने उनको निश्चित समय पर उपस्थित होने का निर्देश दिया। समय से पांच मिनट पहले ही वे पहुंच गए। पिता ने सामने दिखाई दे रहे मकान की ओर इगित करते हुए कहा—'तुम वारी-वारी से नगे पाव वहा तक जाओ और लौटकर आ जाओ।' यह क्या परीक्षा है ? इस विन्दु पर सोचते हुए वे निर्देश का पालन करने के लिए तत्पर हो उठे।

सवमे पहले वडे भाई ने यात्रा शुरू की। रास्ता सकरा था और नुकीले कांटो से भरा था। आसपास कोई पगडडी भी नही थी। एक ओर पिता की आज्ञा, दूसरी ओर तीक्ष्ण शूलें। क्या किया जाए ? उसने आज्ञा को शिरोधार्य किया। जूते उतारकर शूलो पर चला। दो-चार कदम चलते ही पाव विंध गए। खून की धारा वह निकली। आगे चलने की स्थिति नही रही, वह निराश होकर एक ओर बैठ गया।

मझले भाई ने अपने गन्तव्य पर दृष्टि डाली और वहा तक पहुचाने वाले रास्ते को देखा। उसके पाव उठे नही। उसने निर्णय किया—'ऐसी अज्ञान-पूर्ण आज्ञा का पालन करने की निष्पत्ति होगी, पैरो को लहूलुहान करना। क्या सार निकलेगा इससे ? ऐसी आज्ञा का पालन मैं नही कर सकता।' इस चिन्तन के साथ वह पिता की इस अजीव हरकत पर कुढता हुआ एक वृक्ष के नीचे जाकर सो गया।

अव छोटे भाई की वारी थी। वह प्रसन्नता के साथ आया। उसने मन ही मन पिता को प्रणाम किया। यात्रा शुरू करने से पहले उसने अपने गतव्य और उस तक जाने वाले पथ पर एक भरपूर नजर डाली। उसने देखा रास्ते मे तीखे काटे विखरे पड़े हैं। पिताजी हमे अकारण कष्ट क्यो देंगे ? उन्होने जो निर्देश दिया है, वह निश्चित ही वुद्धिमत्तापूर्ण है। इस सोच के साथ उसने इधर-उधर देखा। रास्ते से कुछ हटकर वुहारी रखी हुई थी। छोटे भाई की आखो मे समाधान की चमक आ गई। उसने वुहारी हाथ मे ली। रास्ता साफ किया और मजिल तक पहुंचकर लौट आया।

आचार सवरता है विवेक से

परीक्षा के लिए निर्धारित समय पूरा होने पर पिता वहा पहुंचा। उसने तीनो भाइयो से पूछा—'तुम्हारा काम पूरा हो गया ?' वडे भाई के चेहरे पर पीडा की झलक थी। उसने कहा—'पिताजी ! पावो मे इतने काटे लग गए कि मैं आगे चल नही सका।' मझले भाई के चेहरे पर आक्रोश की झलक थी। वह वोला—'पिताजी ! आपने भी हमारे साथ अच्छा मजाक किया। इतने तीखे काटो पर कोई आदमी चल सकता है क्या ?' छोटे भाई के चेहरे पर सफलता की मुस्कान थी। उसने कहा—'पिताजी ! आपकी आज्ञा का पालन कर मैं आपके चरणो मे उपस्थित हू।' पिता ने पूछा—'तुम वहा तक कैसे गए ? क्या तुम्हारे पैरो मे काटे नही लगे ?' छोटा भाई अत्यन्त विनम्र होकर वोला—'पिताजी ! मैंने काटो को वुहारकर रास्ता साफ कर लिया। उसके वाद चलने मे कोई कठिनाई नही हुई।'

पिता ने तीनो भाइयो की स्थिति का सम्यक् आकलन कर छोटे भाई को उत्तीर्ण घोपित किया। इस पर दोनो वडे भाई वोले—'पिताजी ! काटे वुहारकर तो हम भी वहा जा सकते थे।' पिता ने उनको समझाते हुए कहा—'मैंने काटे वुहारने का निपेध कव किया था ? तुमने मेरे शब्दो को पकडा, पर भावना को नही समझा। आज्ञा का पालन ही वडी वात नही है। वड़ी वात है विवेक। आचार के क्षेत्र मे विवेक का होना वहुत आवश्यक है।'

८. हिंसा के नये-नये रूप

यह संसार है

ससार क्या है ? जो ससरणशील है, वह ससार है। जहा जन्म-मृत्यु की परम्परा चलती रहती है, वह ससार है। यह वाहर का ससार है। एक ससार प्राणी के भीतर होता है। वह भावनात्मक ससार है। उसमे सबसे बड़ा साम्राज्य लोभ का होता है। क्रोध, मान, माया आदि निषेधात्मक भाव भी अपने पूरे परिवार के साथ रहते है। पर इनकी अवस्थिति लोभ के साथ होती है। लोभ जितना प्रवल होता है, क्रोध, मान, माया आदि की जड उतनी ही गहरी होती है।

वाहर के ससार मे वनस्पति का साम्राज्य सवसे वडा है, पर वह गतिशील नही है। सामान्य गति का जहां तक सवाल है, अजीव परमाणु भी गति कर सकता है। पर अजीव तथा सूक्ष्म जीवो की गति चिन्तनपूर्वक नही होती। ज्ञानपूर्वक गति करने का अवसर त्रस जीवो को मिलता है। इस दृष्टि से आगमो मे वताया है—'**एस ससारे त्ति पवुच्चई**।' त्रस जीव ज्ञानपूर्वक ससरण करते है, इसलिए उनको ससार कहा गया है।

इन्द्रियों के वातायन से मिलता है प्रकाश

त्रस और स्थावर जीवो मे भेदरेखा खीचने वाले अनेक तत्त्व है। उनमे एक है ज्ञान का विकास। स्थावर जीवो मे ज्ञान का माध्यम एक ही है। वह है इन्द्रिय। इन्द्रिया पाच हैं। उनमे एक स्पर्शन इन्द्रिय ही उनके ज्ञान का साधन है। यह विकास की न्यूनतम अवस्था है। स्थावर जीवो के पास यह इन्द्रिय न हो तो उनकी चेतना का सवादी कुछ भी नही होता। तलघर मे खुलने वाले छोटे-से वातायन से सूरज की कुछ किरणें वहा पहुच जाती हैं। इसी प्रकार सचेतन जीव इन्द्रिय रूप झरोखो से अपने अस्तित्व की

सूचना देते हैं। स्थावर जीव एक झरोखे—स्पर्श इन्द्रिय के माध्यम से अपने जीवत्व को प्रमाणित करते है और उसी माध्यम से ज्ञान करते हैं।

त्रस जीवो मे ज्ञान चेतना की तरतमता होती है। कुछ जीव दो इन्द्रियो से, कुछ तीन इन्द्रियो से, कुछ चार इन्द्रियो से और कुछ पाच इन्द्रियो से ज्ञान करते है। यो भी कहा जा सकता है कि ये इतने माध्यमो से अपने अस्तित्व को प्रमाणित करते है। त्रस जीवो मे एक वर्ग है, जो अतीन्द्रिय कहलाता है। इनकी चेतना का विकास इतना खुल जाता है कि इन्हे ज्ञान करने के लिए इन्द्रियो के सहयोग की अपेक्षा नही रहती। इनकी चेतना पारदर्शी वन जाती है। वह दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ को भी साक्षात् देख लेती है।

त्रस जीवो के पास ज्ञान करने का साधन विकसित होता है और उनके अस्तित्व को अभिव्यक्ति देने वाले माध्यम भी स्थूल होते हैं। चलना, वोलना, सकुचित होना, विस्तृत होना, डरना, भागना, स्थिति को समझना आदि अनेक हेतु हैं, जिनसे उनके जीवन के वारे मे स्पष्ट सूचना मिल जाती है। इतनी स्पष्टता के वाद भी सकारण, अकारण त्रस जीवो का वध होता रहता है।

वन्दर के हाथ मे तलवार

त्रस जीवो का वध कौन करते है? त्रस जीव ही त्रस जीवो को सताते हैं, मारते हैं। सजातीय प्राणियो मे ही खतरा है त्रस जीवो को। मनुष्य को मनुष्य से ही खतरा है और स्त्री की अवज्ञा स्त्री करती है। भ्रूणहत्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अखवारो की सुर्खियो मे आतकवादियो द्वारा की जाने वाली हत्याए आती है। आतकवादी हत्या करते हैं, वह दिखाई देती है। पर भ्रूण-परीक्षण के वाद हजारो-हजारो कन्या शिशुओ को कितनी निर्ममता से मौत के घाट उतारा जाता है, उसकी कही चर्चा तक नही होती।

एक ओर हमने मा की ममता को देखा है। अपने अपग, अवोल और पगलाए हुए शिशु की वह पूरे मन से सेवा करती है। जिस शिशु से उसको कोई उम्मीद नही होती, जो जीवन भर भार वनकर रहता है, जिसकी सेवा मे मा की सारी सुख-सुविधा छिन जाती है, उस वच्चे को भी वह अपने साये से दूर करना नही चाहती। अपने स्वस्थ और होनहार वच्चो से भी वह उसके प्रति अधिक ममतामयी हो उठती है, जो अक्षम, अपग या अविकसित रह जाता है।

दूसरी ओर कन्या-भ्रूण के प्रति इतनी निर्दयता कि उसे जन्म लेने के अधिकार से भी वचित कर दिया जाता है। आखिर ऐसा क्यो होता है?

क्या मा की ममता का स्रोत सूख गया है ? शायद एक विमाता भी अपनी सौत की वच्ची के साथ ऐसा जघन्य व्यवहार नही करती होगी। भ्रूण के स्वास्थ्य-परीक्षण का साधन (सोनोग्राफी) उसी के लिए जानलेवा सावित हो रहा है। लगता है वन्दर के हाथ मे तलवार थमा दी गई है।

शक्ति का सदुपयोग होता है विवेक से

राजा ने अपने महल मे एक वन्दर तैनात किया। उसे तलवार दी गई और राजा के विश्राम के समय उसे कोई वाधा न पहुचाए, यह काम सौंपा गया। वन्दर खुश हुआ। उसे राजमहल मे रहने का स्थान मिला। खाने के लिए वढिया भोजन मिला और राजा का अगरक्षक वनने का सौभाग्य मिला।

एक दिन भोजन के वाद राजा विश्राम कर रहा था। वन्दर हाथ मे तलवार लेकर पास मे वैठ गया। राजा को कुछ समय के लिए नीद आ गई। वन्दर को लगा कि राजा के नाक पर मक्खी वैठ गई है। उसने उसको उडाने का प्रयास किया। पर वह उडी नही। वन्दर को गुस्सा आ गया। उसने मक्खी पर तलवार से वार करने के लिए हाथ ऊपर उठाया। उसी समय महल मे छिपे हुए चोर ने आकर वन्दर के हाथ से तलवार छीन ली। चोर देख रहा था कि वन्दर जिसे मक्खी समझकर उड़ाना चाहता है, वह मक्खी नही, राजा की नासिका पर उभरा हुआ मष है।

वात यो हुई कि उस दिन राजमहल मे कोई चोर घुस गया था। वह घुस तो गया, पर वहा से निकल नही सका। वह निकलने का उपाय करता तव तक सूर्योदय हो गया। महल के वाहर हलचल मच गई। चोर सास रोककर महल के किसी कोने मे छिप गया। वह अपने वचाव के लिए इधर-उधर देख रहा था। वन्दर की हरकत देखकर वह स्वय पर नियत्रण नही कर सका। उसने झपटकर तलवार पकड ली। राजा के प्राण वच गए।

चोर वहां से मुडे तव तक राजा की नीद खुल गई। उसने आखें खोली। अपने सामने किसी अजनवी को देख उसके आश्चर्य की सीमा नही रही। उसने पूछा—'तुम कौन हो ? यहा कैसे आए ?' चोर ने सारी वात सही-सही वता दी। कहानी आगे चलती होगी। पर प्रस्तुत सन्दर्भ मे इसका तथ्य इतना ही है कि वन्दर तलवार का उपयोग करने के स्थान पर उसका दुरुपयोग करने पर आमादा हो गया। ठीक इमी प्रकार महिलाओ ने स्वयं अपने ही खिलाफ वैज्ञानिक उपकरण का गलत इस्तेमाल करना शुरू किया है। यह प्रवृत्ति स्वयं उनके लिए और पूरी महिला जाति के लिए घातक है।

उत्पीड़न का दंश

सामान्यत यह कहा जाता है कि पुरुष शोषण करता है स्त्री का। पुरुष-प्रधान समाज मे ऐसी धारणा अस्वाभाविक भी नही है। किन्तु गहराई से देखा जाए तो स्त्री जाति की अवमानना मे स्त्री ही अधिक सक्रिय पाई जाती है। कन्या के जन्म पर कानाफूसी करने वाली स्त्रिया होती है। समझ मे नहीं आता कि जन्म के साथ ही लडकी भार कैसे बन जाती है। कहा तो यह जाता है कि जनमने वाला अपनी तकदीर लेकर आता है। फिर लडकी होने मात्र से उसकी तकदीर कैसे सो जाती है? जन्म की तरह विवाह के अवसर पर दहेज को लेकर नुक्ताचीनी करने वाली भी महिलाए होती है। उस समय वे अपने अतीत को भूल जाती है और अपनी लडकियो को भी भूल जाती है।

ससुराल मे जाकर कोई लडकी सही ढग से समायोजित नही होती है तो उसकी आलोचना का दायित्व भी महिलाओ पर रहता है। किसी कन्या या स्त्री को प्रोत्साहन देना या परिष्कार का मार्ग सुझाना दूर की बात है। कही कोई छोटा-सा सुराक मिल जाए तो उसमे औजार डालकर तोडभाज के काम मे महिलाओ ने जो माहरत हासिल की है, उसके स्थान पर उनकी शक्ति का उपयोग रचनात्मक कामो मे हो तो महिला समाज का ढाचा ही बदल सकता है। यह तभी सभव है जब उनका अपने समाज या जाति के प्रति दृष्टिकोण बदलेगा।

इधर कुछ वर्षों मे शिक्षा और सस्कारो के क्षेत्र मे थोडा बदलाव आने लगा है। पर भ्रूण-परीक्षण की नयी सस्कृति ने अपराध की नई शैली को जन्म दे दिया। अहिंसा और मानवीय अधिकारो मे विश्वास रखने वाले समाज को इस दिशा मे कोई ठोस निर्णय लेना चाहिए अन्यथा महिला-उत्पीडन का यह दश न जाने कितनी पीढिया भोगती रहेगी?

कहा से आ गई सवेदनशून्यता?

मनुष्य एक सवेदनशील प्राणी है। वह परिवार मे रहता है, समाज मे रहता है। परिवार या समाज मे कही भी कोई हादसा होता है तो उसे पीडा का अनुभव होता है। पर अब स्थितिया बदल रही हैं। पारिवारिक एव सामाजिक रिश्तो मे टूटन हो रही है। मनुष्य अधिक से अधिक स्वार्थ-केन्द्रित होता जा रहा है। दूसरे के दुख और पीडा को वह तटस्थ बनकर देखता रहता है। उससे उसके मन मे किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नही होती। यदि प्रतिक्रिया होती भी है तो उसका स्वरूप भिन्न होता है।

स्वामी रामतीर्थ एक वार जापान गए। वहां किसी परिचित व्यक्ति से उनकी मुलाकात हुई। उनके वीच वार्तालाप चल ही रहा था कि उन्हे कारखाने मे आग लगने की सूचना मिली। इस सूचना ने उनको अधीर वना दिया। वे फूट-फूट कर रोने लगे। रोते-रोते ही उन्होंने स्वामी रामतीर्थ से वताया कि उनकी करोड़ो की सपत्ति स्वाहा हो गई।

स्वामीजी उनको समझाने लगे। उसी समय उनका लडका उन्हे खोजता-खोजता आया। पिता को रोता-विलखता देख वह वोला—'पिताजी! यह वात सही है कि कारखाना जल गया। पर हम तो उसे पहले ही वेच चुके हैं।' यह वात सुनते ही पिता के आसू थम गए। स्वामीजी उनको देखते रहे। पिता-पुत्र के वीच संवाद आगे वढे, उससे पहले ही दूसरा लडका वहा पहुंचा। उसने कारखाने मे आग लगने की वात वताई। पिता वोला—'चिन्ता मत करो। कारखाना हमने वेच दिया।' पुत्र ने कहा—'पिताजी! अभी तक कारखाना वेचा नही है, वेचने की वात थी।' यह वात सुन वे फिर उदास हो गए।

स्वामीजी ने देखा और सोचा—यह दुनिया भी एक तमाशा है। अपने नुकसान पर रोना और दूसरे के नुकसान पर हसना। नुकसान तो नुकसान ही है। दु ख नुकमान का नही, अपनेपन का है। जो व्यक्ति या वस्तु अपनी नही है, उसको कुछ भी हो जाए, मन पर कोई प्रभाव नही होता। यह सवेदन-शून्यता कहा से आ गई ? स्वार्थ के ताप ने सुख-दुख की साझेदारी की भावना को ही सुखा दिया। भावना या सवेदन मे शून्य व्यक्ति त्रस जीवो की हिसा मे क्यो वचेगा ?

संकल्प पुष्ट होने से छूटते हैं हिंसा के संस्कार

जीवन-निर्वाह के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा को छोड़ना गृहस्थ जीवन मे सभव नही है। पर सौन्दर्य प्रसाधनो के लिए की जाने वाली हिंमा को मुक्त रखने का क्या अर्थ है ? क्या वेजुवान निरीह पशु-पक्षियो के जीवन से भी अधिक मूल्यवान है सौन्दर्य। प्राकृतिक सौन्दर्य साधनो की उपेक्षा और जीव-हिंसा-निष्पन्न प्रसाधन सामग्री का आकर्पण मनुष्य के मन मे छिपी क्रूरता को खोलकर रख देता है।

खरगोश हो चाहे विज्जू, साप हों चाहे भेड, जिस निर्दयता के माथ इनके प्राणो से खिलवाड की जाती है, उस दृश्य को देखना तो दूर, सुनने मात्र से अन्त.करण कांप उठता है। पर जो मनुष्य कृत्रिम सौन्दर्य को ही अपना लक्ष्य मान वैंठे हैं, वे उन प्राणियो की पीड़ा को कैसे समझेंगे ?

और भी अनेक कारण हैं, जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य आख मूदकर हिंसा करता रहता है। कभी वह प्रयोजनवश हिंसा करता है, कभी मनोरजन के लिए हिंसा करता है, तो कभी हॉवी मानकर हिंसा के क्षेत्र मे उतर जाता है। स्थावर जीवो की हिंसा से वह उपरत न हो सके तो कम से कम निरपराध त्रस जीवो की हिंसा से तो वचे। हिंमा से अपने आपको वचाने का दृष्टिकोण निर्मित होने मे ही उससे विरत होने का सकल्प पुष्ट हो सकता है।

६. शस्त्र-विवेक है निःशस्त्रीकरण

निःशस्त्रीकरण आज की अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय है। शस्त्र-निर्माण और शस्त्रप्रयोग के आतंक ने मनुष्य को इतना डरा दिया है कि अब वह निःशस्त्रीकरण की ओर आशाभरी निगाहों से देख रहा है। निःशस्त्रीकरण शब्द इस युग का है। भगवान महावीर के युग का शब्द है—शस्त्रपरिज्ञा। आयारो के प्रथम अध्ययन का नाम है—**सत्थपरिण्णा**—शस्त्रपरिज्ञा।

'शस्त्रपरिज्ञा' शब्द दो शब्दों का जोड़ है—शस्त्र और परिज्ञा। शस्त्र के दो रूप हैं—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। द्रव्यशस्त्र शस्त्र रूप में प्रयुक्त होने वाला पदार्थ होता है, भावशस्त्र है व्यक्ति का असंयम या अविरति। सीधे शब्दों में कहा जाए तो भावशस्त्र का अर्थ है हिंसा के भाव।

परिज्ञा के दो रूप हैं। ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ परिज्ञा से जाना जाता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से हेय का प्रत्याख्यान किया जाता है। इसके लिए शस्त्र-विवेक शब्द भी काम में आता है। शस्त्र-विवेक की पूरी व्याख्या इस प्रकार होती है—'शस्त्र का निर्माण न हो, उसका क्रय न हो, उसके द्वारा किसी का प्राण वियोजन न हो।' एक शब्द में कहा जाए तो शस्त्र मत बनो। जब तक व्यक्ति शस्त्र बना रहता है, मार-काट होती रहती है।

संयम आश्वासन है

पाषाणयुग में मनुष्य प्रस्तरशस्त्रों का प्रयोग करता था। काष्ठ और लौह के शस्त्र बाद में बने। शस्त्रों का विकास होते-होते उसकी यात्रा अणु-युग तक पहुंच गई। आने वाली सदी में अणु से भी सूक्ष्म और मारक शस्त्रों का निर्माण हो सकता है। भगवान महावीर ने कहा है—**अत्थि सत्थं परं परेण, नत्थि असत्थं परं परेण**।' शस्त्र में, हिंसा में परंपरा चलती है। अशस्त्र में, अहिंसा में कोई परंपरा नहीं है। ईंट का जवाब पत्थर से दिया जा सकता है। अहिंसा अशस्त्र है, संयम अशस्त्र है, अहिंसा और संयम का

जवावी हमला क्या हो सकता है ?

सयम क्या है ? मन, वाणी और शरीर पर अपना नियत्रण ही सयम है। अपने से अपना अनुशासन, यही मयम है। सारा ससार असयम की दिशा मे वढ रहा है। विश्व स्तर की समस्याओ मे सवसे वडी समस्या अमयम की है। इसका समाधान खोजे विना किसी भी समस्या का समाधान सभव नही है। क्योकि समस्याओ का कोई ओर-छोर नही है। भूत को भगाया जाता है तो पलीत जाग जाता है। एक समस्या को ममाप्त किया जाता है तो दूसरी खडी हो जाती है। इस ममस्या-वहुल समय मे मनुष्य के लिए कोई आश्वासन है तो वह है सयम। इसके द्वारा ही हिंसा को नियत्रित किया जा सकता है।

शस्त्रपरिज्ञा के दो रूप

शस्त्रपरिज्ञा छोटा-सा शब्द है। इसकी अर्थ-मीमासा वहुत गहरी है। उस गभीरता तक हर एक व्यक्ति की पहुच नही हो सकती। इस दृष्टि से तत्त्व प्रतिपादन के कई स्तर निर्धारित है। सामान्यत कोई नया व्यक्ति मपर्क मे आता है। उमे साधुचर्या की जानकारी दी जाती है ता पदयात्रा, केशलोच, रात को नही खाना, रात को पानी नही पीना, भिक्षा से जीवनयापन करना आदि प्राथमिक वातें वताई जाती है। कोई वौद्धिक व्यक्ति आता है तो उमको समता, महिष्णुता, लाभ-अलाभ मे समभाव, ध्यान आदि गभीर तत्त्व समझाए जाते है। आने वाला धर्म और दर्शन का मर्मज्ञ हो तो आत्मवाद, कर्मवाद, स्याद्‌वाद, दानदया, मिश्रधर्म आदि का मर्म वताया जाता है।

शस्त्रपरिज्ञा के सन्दर्भ मे भी दोनो प्रकार से विवेचन होता है। किसी को पीटो मत, मारो मत आदि शस्त्र से उपरत होने का स्थूल रूप है। सूक्ष्मता से देखा जाए तो क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य आदि तीक्ष्ण शस्त्र है। इन शस्त्रो की परिज्ञा आवश्यक है।

क्रोधी अपना अहित करता है

हिंसक व्यक्ति स्थूल और सूक्ष्म—दोनो प्रकार के शस्त्रो का उपयोग करता है। वह सोचता है कि उसके शस्त्र से दूमरा व्यक्ति मरता है। पर दूसरे को मारने वाला पहले स्वय को मारता है। स्वय को मारे विना दूसरे पर प्रहार नही किया जा मकता। एक व्यक्ति क्रोध करता है। उसके क्रोध से दूमरा व्यक्ति क्रोधित या उत्तेजित हो, यह अनिवार्यता

नही है। क्रोध करने वाला उसका नुकसान करना चाहता है। पर वह उत्तेजित नही होगा तो उसका कुछ भी अहित नही होगा।

जो क्रोध करता है, वह भीतर से सतप्त होता ही है। शरीर के स्तर पर उसे कम्पन, रक्तचाप की वृद्धि, हृदयरोग आदि अनेक बीमारियो का उपहार मिलता है। इसलिए **आयकदंसी अहियं ति णच्चा**—आतकदर्शी व्यक्ति क्रोध आदि निषेधात्मक भावो मे अपना अहित देखकर उनसे दूर रहने का प्रयास करे। ऐसा करने वाला किसी का हित सपादन कर सके या नही, कम-से-कम अपना अहित नही करेगा। अठारह पाप निषेधात्मक भाव है। आत्महित की प्रेरणा से इनसे निवृत हुआ जा सकता है। जो व्यक्ति आत्महित या निर्जरा के लिए तपस्या करता है, साधना करता है, वह कभी निराश नही होता। निराशा उसे मिलती है जो किसी आकांक्षा मे बधकर साधना का पथ स्वीकार करता है।

वक्ता को लाभ ही मिलता है

मैं प्रवचन करता हू। हजारो लोग प्रवचन सुनते हैं। श्रोता लोग प्रवचन को ध्यान से सुनें, यह आवश्यक नही है। यह भी आवश्यक नही है कि सब लोग मेरी बात मानकर धार्मिक बने। कोई मेरी बात नही सुनता है, नही समझता है और अपने जीवन का क्रम नही बदलता है, इस बात को लेकर मुझे निराशा क्यो हो ? मैंने पढा है—

न भवति धर्म· श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति॥

एकान्त हितकारी बात सुनने पर भी सब श्रोता धार्मिक नही बन सकते। अनुग्रह बुद्धि से बोलने वाला वक्ता उससे निश्चित रूप से लाभान्वित होता है।

श्रोता को लाभ नही मिला तो वक्ता को कैसे मिला ? यह गणित यहा काम नही करता। श्रोता का अपना कर्तृत्व है और वक्ता का अपना। श्रोता को लाभ होगा सुने हुए उपदेश पर अमल करने से। वक्ता बिना किसी आकाक्षा के बोलता है। उसका बोलना ही तपस्या है। यदि उसके मन मे पूजा-प्रतिष्ठा पाने की लालसा है तो उसका बोलना तपस्या नही हो सकता। पूजा-प्रतिष्ठा उसे मिले या नही, प्रवचन करने से होने वाली निर्जरा के लाभ मे वह अवश्य वचित रह जाता है।

प्रश्न गणित का नही, समझ का है

मालिक ने नौकर को वैद्य के पास भेजा। वह गया और वैद्य को लेकर लौटा। इसमे समय बहुत लग गया। मालिक ने विलम्ब का कारण पूछा। नौकर बोला—'मैं एक साथ अनेक काम करके आया हू।' मालिक ने कामो का विवरण मागा तो वह बोला—'वैद्यजी को लाना ही था। वैद्य मालिश कराने का परामर्श देता तो मालिश करने वाले को बुलाने जाना पडता। समय पर इजेक्शन लगाने की जरूरत पड जाए तो उसके लिए फिर जाना पडता। यह भी सभव है कि वैद्य की दवा फेल हो जाए और मरीज मर जाए। उसके लिए कफन की जरूरत होगी, वह भी मैं साथ ही ले आया हू।'

मालिक ने कहा—'तुमने ऐसी अशुभ कल्पनाए क्यो की ?' नौकर बोला—'लालाजी ! मैं इतना मूर्ख नही हू कि एक काम के लिए बार-बार घूमता रहू।' मालिक सिर थाम कर बैठ गया। नौकर का यह गणित किसकी समझ मे आ सकता है और किसके लिए उपयोगी हो सकता है ?

इस समग्र कथन का सार इतना ही है कि हमारी विवेक चेतना सदा जागृत रहे। हम कुछ बोले तो विवेक से बोलें और करे तो विवेक से करे। विवेक ही वह तत्त्व है जो व्यक्ति को शस्त्र बनने तथा शस्त्र का प्रयोग करने से बचा सकता है।

दो व्यक्ति धर्माराधना नही कर पाते

इस ससार मे ऐसे व्यक्ति भी है, जिनकी विवेक चेतना जागृत नही होती। विवेक चेतना के जागरण बिना व्यक्ति धार्मिक नही बन सकता। भगवान महावीर ने कहा है कि दो प्रकार के व्यक्ति धर्म की आराधना नही कर सकते। वे दो प्रकार के व्यक्ति है—आर्त और प्रमादी—**अट्टाबि सता अदुवा पमत्ता**। आर्त व्यक्ति दु खी होता है। दु ख मे डूबा हुआ आदमी अपने भीतर नही देख सकता। जब तक आत्मदर्शन की स्थिति नही बनती, धार्मिकता नही आ सकती।

प्रमाद वे करते है, जो विलासी होते है। विलासिता मे आकठ निमग्न व्यक्ति अपने कर्तव्य को भी विस्मृत कर देते है। धर्म जैसे आध्यात्मिक तत्त्व को समझने के लिए उन्हे अवकाश ही नही मिलता। उनके जीवन का लक्ष्य दैहिक स्तर से आगे नही बढता। देह के स्तर पर जीने वाले लोग पदार्था-भिमुख वृत्ति वाले होते है। पदार्थ को देहधारण का साधन मानना, पदार्थ की उपयोगिता स्वीकार करना है। पदार्थ को ही सब कुछ मान लेना सत्य से

आखमिचौनी करना है। सत्य से आख मूदने की स्थिति मे व्यक्ति अनर्थ हिंसा मे प्रवृत्त होता है।

राजनीति का क्षेत्र हो या समाज का, धार्मिक मतवादो की समस्या हो या परिवार की, हिंसा ने अपने पाव सब जगह फैला लिये। उसकी पकड जितनी गहरी होती जा रही है, नि:शस्त्रीकरण की अपेक्षा उतनी ही बढती जा रही है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय मच से नि.शस्त्रीकरण की आवाज उठ रही है। धार्मिक लोगो के लिए यह अच्छा अवसर है। इस अवसर का उचित लाभ उठाकर शस्त्रनिर्माण की चेतना को रूपान्तरित करने का प्रयोग हो तो मनुष्य के मन से शस्त्र का भय समाप्त हो सकता है।

१०. वनस्पति की उपेक्षा : अपने सुख की उपेक्षा

ससारी प्राणी का जीवन परनिर्भर होता है। कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जो पूर्ण रूपे से आत्मनिर्भर रहता है। प्राणी दो तत्त्वो का समवाय है। आत्मा और शरीर इन दोनो का योग ही निर्भरता की यात्रा का प्रारम्भ है। शरीर-मुक्त आत्मा की कोई अपेक्षा नही होती। उसे न किसी मे कुछ लेना और न किसी को कुछ देना। आत्मस्वरूप मे रमण ही एकमात्र काम है उसका। हमारी सारी अपेक्षाओ का सम्वन्ध शरीर से है। औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षाए भिन्न-भिन्न हो सकती है। पर इन दोनो शरीरो का प्रेरक तत्त्व है कर्मशरीर। कर्मशरीर की उपस्थिति मे कोई भी आत्मा निरपेक्ष होकर नही रह सकती।

मनुष्य के वारे मे यह कहा जाता है कि वह सर्वाधिक विकासशील चेतना वाला प्राणी है। वह पृथ्वी, पानी आदि सभी जीवनिकायो का उपयोग करता है। वनस्पति के साथ उसका वहुआयामी सम्वन्ध है। भोजन, वस्त्र, मकान आदि आवश्यकताओ की पूर्ति मे वनस्पति का पूरा सहयोग रहता है। उससे जीवन मिलता है, सुख मिलता है, सुविधा मिलती है, इसलिए वह उसका अनियत्रित उपयोग करता है। यह स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण है। मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि के लिए अन्य प्राणीजगत मे निरपेक्ष रहे, इसका क्या औचित्य है ?

एक को प्रसन्नता . एक को पीडा

मनुष्य मे चेतना है, सुखैषणा है, इसी प्रकार वनस्पति मे भी चेतना और सुख की एपणा रहती है। भगवान् महावीर ने कहा है—**'एस लोए वियाहिए'** —वनस्पति एक लोक है। वह भी श्वासोच्छ्‌वास लेता है, भोजन लेता है, सुख-दु ख का सवेदन करता है और जन्म-मरण की परिक्रमा करता है। जव तक यह वात समझ मे नही आएगी, उसके स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकृति नही मिल सकती। मनुष्य के उपयोग मे आने के कारण वनस्पति

को निर्जीव वस्तुओ के समान समझ लेना उसकी चेतना के साथ खिलवाड करना है।

कुछ बच्चे तालाव के किनारे खेल रहे थे। उन्होने ककर हाथ मे लिये और पानी मे फेंके। तालाव की शान्त सतह पर हलचल हुई। पानी लहरो के आकार मे वदल गया। बच्चो को यह दृश्य अच्छा लगा। वार-वार पानी मे ककर फेकने लगे। वहा कोई पाश्चात्य विद्वान् वैठा था। उसने बच्चो की क्रीडा को देखा और देखा पानी मे उठती हुई तरगो को। पानी की पीडा उसके भीतर उतर गई। वह मौन नही रह सका। उसकी पीडा एक कविता के रूप मे अभिव्यक्त हुई। उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

खेल मे तुमको पुलक उन्मेप होता है।
लहर वनने मे सलिल को क्लेश होता है॥

इस क्लेश का सवेदन जो लोग करते है, वे पानी का अपव्यय नही कर सकते।

भगवान की आज्ञा से वाहर

वगीचा मनुष्य के स्वास्थ्य और मनोरजन का प्राकृतिक साधन है। वगीचे मे पौधो पर खिले हुए फूल देखकर उसका मन प्रसन्न हो जाता है। अपने मन की प्रसन्नता के लिए कोई पौधो की टहनी तोडले, फूल तोडले उससे वनस्पति को कितना कष्ट होता है! वनस्पति की सवेदनशीलता इतनी गहरी है कि कोई व्यक्ति उसकी काटछाट करने के लिए वगीचे मे आए तो विना किसी सूचना और क्रिया के वह काप उठती है। वह व्यक्ति के मन को पढ़ती है और जान लेती है कि आने वाले की मशा क्या है? वनस्पति की पीड़ा को उपेक्षित कर अपने सुख के लिए उसका अनावश्यक उपयोग करते रहना वनस्पति जगत् के प्रति न्याय नही हो सकता।

भगवान ने कहा है—'**एत्थ अगुत्ते अणाणाए।**' जो व्यक्ति वनस्पति के प्रति असावधान रहता है, उसका अनावश्यक उपयोग करता है, वह मेरी आज्ञा से वाहर है। इस सूत्र को ध्यान मे रखने वाला सव जीवो के प्रति सावधान रह सकता है, उनके उपयोग मे सयम कर सकता है।

अनर्थ हिंसा से वचना आवश्यक है

'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह एक सिद्धान्त है। इसकी दुहाई देकर पानी, वनस्पति आदि जीवों की हिसा को वैध वताने वाले लोग क्यो भूल जाते है

कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' भी एक सिद्धान्त है। एक जीव दूसरे के प्रति उपकार और सहानुभूति की भावना से भरा रहता है तो वह उसके हितो को विघटित नही कर सकता। जीवन धारण के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा की वात को इसके साथ न जोडा जाए तो कम-से-कम अनर्थ हिंसा से वचने का सकल्प तो पुष्ट होना ही चाहिए। जिन लोगो के सामने अनर्थ हिंसा से वचने का लक्ष्य नही है, वे अन्य जीवो के प्रति कितने निर्मम वन जाते है, कल्पना नही की जा सकती।

मनुष्य को रोटी की जरूरत होती है, मकान की अपेक्षा होती है, पर विलासिता की सामग्री के विना भी जीवन चल सकता है। शादी-विवाह तथा अन्य उत्सवो के प्रसग मे फूलो की सजावट करने वालो ने क्या कभी यह भी सोचा कि उनका मनस्तोष कितने जीवो के सहार से होता है! क्या यह तथाकथित विलास-सामग्री जीवन चलाने के लिए आवश्यक है? इसके विना लाखो-करोडो लोगो का जीवन स्वाभाविक रूप से चल सकता है तो कुछ ही लोग अपने सुख के लिए उन वेजुवान जीवो पर कहर क्यो ढा रहे हैं? इस अनर्थ हिंसा को एक सीमा तक भी रोका जा सके तो मनुष्य की जीवनशैली मे परिवर्तन हो सकता है।

गाव को सुख देने की आकाक्षा

हर मनुष्य की यह आकाक्षा रहती है कि उसे सुख और आनन्द मिले। पर उसे नही भूलना चाहिए कि सुख और आनन्द किसी दूसरे के द्वारा नही मिल सकते। सुख-दु ख हर प्राणी का अपना-अपना होता है। वह अपने द्वारा ही मिल सकता है। दूसरा कितना ही प्रयत्न करे, किसी को सुखी नही वना पाता। एक पौराणिक कहानी इस तथ्य की पुष्टि करती है।

इन्द्र और इन्द्राणी विमान मे वैठकर कही जा रहे थे। मार्ग मे एक गाव के वाहर विमान रुका। इन्द्र-इन्द्राणी कुछ समय के लिए धरती पर आ गए। इन्द्राणी ने उस गाव के लोगो को देखा। उनकी स्थिति दयनीय थी। इन्द्राणी का मन करुणा से द्रवित हो उठा। वह इन्द्र के पास पहुचकर वोली—'स्वामिन्! इस गाव के लोग वहुत दु खी है। इनको सुखी वना दो।' इन्द्र ने कहा—'कोई किसी को सुखी नही वना सकता।' इन्द्राणी ने आग्रह किया—'आपको यह काम करना ही होगा।' इन्द्र ने उसको समझाते हुए कहा—'तुम ऐसा आग्रह मत करो। यह ससार है। यहा सव प्रकार के लोग रहते है। अगर मेरे वनाने मे कोई सुखी वन जाता तो मै ससार मे किसी को दुखी रहने ही नही देता।'

वहुत समझाने पर भी इन्द्राणी नही मानी। इन्द्र ने उसका मन रखने के लिए वहा सोने-चादी और हीरे-पन्ने के ढेर लगा दिए। गाववासी उधर आए। वे उन चमकते ढेरो को देख चकित रह गए। रात को वहा कुछ भी नही था। सुवह-सुवह धन के ढेर कैसे लग गए ? यह कुतूहल का विषय था। पर वे इसमे उलझे नही। पूरे गाव मे वात फैल गई। लोग दौडे-दौड़े आए और झोले भर-भर कर ले गए। पूरा गाव सपन्न हो गया। सवके चेहरो पर खुशिया तैरने लगी। इन्द्राणी ने इन्द्र से कहा—'आज इस पूरे गाव को सुखी देख मैं वहुत प्रसन्न हू।' इन्द्र वोला—'इन्द्राणी ! ध्यान रखना, यह स्थिति क्या रग लाती है ?'

किसे दिखाए हम अपना ऐश्वर्य

दो-चार दिन वाद इन्द्र और इन्द्राणी फिर उसी गाव के वाहर आकर ठहरे। उन्होंने देखा—'लोगो के पास धन वहुत है, पर उनका मन शान्त नही है। उनकी वेचैनी देख इन्द्राणी ने एक व्यक्ति से पूछा—'भाई ! क्या वात है ? कौन-सी वुरी खवर आ गई ? आप सव उदास क्यो हैं ?'

इन्द्राणी की जिज्ञासा को समाहित करते हुए उस व्यक्ति ने कहा—'क्या पूछती हो, मा ! हमारा गाव दुखी हो गया। न जाने किस मूर्ख की करतूत है यह। उसने हमको अपार ऐश्वर्य दिया पर सवको समान कर दिया। अव हम अपना वैभव किसे दिखाए ? पहले हमारे पास इतना धन नही था। फिर भी जरूरत होने पर काम करने वाला आदमी मिल जाता था। आज तो पूरे गांव मे कोई मजदूर नही है, कोई नौकर नही है। सारा काम हमे हाथ से करना पड़ता है। क्या करे हम इस अपार सपत्ति का ?'

इन्द्र दूर खड़ा यह सव सुन रहा था। उसने इन्द्राणी के पास आकर धीरे से कहा—'लो, वनाओ तुम इन सवको सुखी।' इन्द्राणी ने जो कुछ देखा और सुना, वह कुछ कहने की स्थिति मे नही थी।

समस्याओं का सागर : संयम की नाव

सुख की आकाक्षा से सुख नहीं मिलता। इसी प्रकार किसी को सताने या दुःख पहुचाने से भी व्यक्ति सुखी नही वन सकता। इसलिए छोटे-से-छोटे प्राणी के प्रति भी उपेक्षा का भाव नही रहना चाहिए। अनाज, सब्जी, फल-फूल, घास-पात आदि वनस्पति जीवो के प्रति भी मनुष्य का दृष्टिकोण उदार रहे, यह आवश्यक है। क्योकि वनस्पति जगत मनुष्य के लिए उपयोगी है।

वनस्पति को काटना पर्यावरण को विगाडना है। पर्यावरण के विगडने से मनुष्य के सिर पर जितने खतरे मडराने लगे है, उनसे वचने का एक ही उपाय है सयम। केशराज कृत रामायण की दो पक्तिया है—

वलते छाटो अमिय रो।
आरति माहि सुबोल॥

दु ख के समय मे किसी के सहानुभूतिपूर्ण दो वोल इतने सुखद लगते हैं मानो जलते हुए अग पर अमृत छिडक दिया गया हो।

सयम भी एक प्रकार का अमृत है। वढती हुई आकाक्षाओ की ज्वाला भोग-सामग्री के उपयोग से और अधिक वढती है। उसे शान्त करने का एक ही उपाय है सयम। सयम की साधना से आनन्द मिलता है, पदार्थ का आकर्षण छूटता है, तृप्ति का अनुभव होता है और सकल्प-विकल्पो से छुटकारा मिलता है।

ससार मे समस्याए वढ रही है, यह सवको दीखता है। ममस्याए क्यो वढ रही है, यह सवको नही दीखता। जैन तीर्थंकरो ने असयम को समस्याओ का उत्स माना है। आज का आदमी वैज्ञानिक विकास कर समस्याओ को निरस्त करना चाहता है। पर यह चाह धूल के कौर भरकर पेट भरने जैसी है। समस्याओ के सागर को पार करने के लिए मनुष्य को सयम की नौका पर सवार होना होगा, सयम ही जीवन है, इस उद्घोप को आदर्श मानना होगा और व्यक्तिगत भोगोपभोग को सीमित करना होगा।

११. सूक्ष्म जीवों की संवेदनशीलता

समारी जीवो के दो प्रकार हैं—जगम और स्थावर। जगम का अर्थ है गतिशील। जो जीव सुख मे प्रवृत्त और दु:ख से निवृत्त होने के लिए गति करते हैं, वे जंगम या त्रस कहलाते हैं। इन जीवो का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए वहुत गम्भीर ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीव इस श्रेणी मे आ जाते हैं। इन जीवो के सुख-दु ख का सवेदन स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है।

स्थावर जीव गतिशील नही होते। कुछ जीव गति करते भी हैं तो उनकी गति उद्देश्यपूर्वक नहीं होती। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति जीवो की गणना स्थावर जीवो मे होती है। प्रश्न यह है कि ये सूक्ष्म जीव सुख-दु ख का सवेदन करते है क्या? जैन तीर्थंकरो ने इस सन्दर्भ मे जितना सूक्ष्म विवेचन किया है, सभवत: किसी ने नही किया। जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ होते है। उनके ज्ञान-दर्शन को अनन्त माना गया है। वे दृश्य और अदृश्य सव प्रकार के तत्त्वो को जानते है, देखते हैं। उन्होने मिट्टी से लेकर वनस्पति तक सव जीवो मे चेतना स्वीकार की है। विज्ञान के लिए यह अनुसधान का विपय हो सकता है। वनस्पति के वारे मे अनुसंधान का काम काफी आगे वढा है। पर तीर्थंकरो द्वारा निरूपित व्याख्या को समझने के लिए शोधकार्य को वहुत आगे वढाना होगा।

स्त्रियों की आत्मा का विकास

आज भी अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जो कीड़ो-मकोडो मे जीवत्व स्वीकार नही करते। पशुओ मे पूरी चेतना नही मानते। इससे भी आगे वढें तो स्त्रियो को पूरा सचेतन नहीं मानते। उनकी दृष्टि मे स्त्रियो की आत्मा पूर्ण विकसित नही होती। यूनान मे हजारो सालों तक यह धारणा प्रचलित रही कि स्त्रियों के दात पुरुपो से कम होते हैं। इस धारणा की सत्यता का परीक्षण करना तो

दूर, कुछ विद्वानो ने अपने साहित्य मे इसे उद्धृत कर दिया। इस कारण यह धारणा आगे-स-आगे प्रसरणशील बनती रही। दात जैसी प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली स्थूल चीज के बारे मे भी इतना गहरा अन्धविश्वास चल सकता है, वहा आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्त्व के अवबोध की दिशा मे आगे बढने का प्रश्न ही कहा उठता है।

या मैं या वह

मेरा अस्तित्व है, मैं हू, यह आत्मस्वीकृति की भाषा है। मेरे अतिरिक्त और भी जीव इस ससार मे है, यह दूसरो के अस्तित्व की स्वीकृति व्यापक दृष्टिकोण है। व्यवहार के धरातल पर कोई व्यक्ति यह आग्रह कर सकता है कि वह किसी दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार नही कर सकता या सहन नही कर सकता। पर निश्चय नय के अनुसार छोटे-बडे हर प्राणी का स्वतत्र अस्तित्व है।

राम और रावण के बीच युद्ध छिडा। युद्ध का कारण था रावण द्वारा सीता का अपहरण। सीता को अशोक वाटिका मे बन्दी बनाकर रखा गया। हनुमान ने उसकी खोज की। रावण के हितैषी लोगो ने उसको समझाया कि वह ससम्मान सीता को लौटा दे। पर रावण ने आग्रह नही छोडा। विवश हो राम को युद्ध करना पडा। कई दिनो की लडाई किसी निर्णायक बिन्दु पर नहीं पहुची। राम के लिए एक-एक क्षण भारी हो रहा था। उस समय उसने सकल्प किया—'**अरावणमराम वा जगदद्य करोम्यहम्**'—इस ससार मे या तो रावण रहेगा या राम रहेगा। दोनो साथ नही रहेगे।

भाविनी और रेखचन्द (रेखला) सहपाठी थे। भाविनी राजकुमारी थी और रेखचन्द एक गरीब मा का इकलौता बेटा था। किसी ज्योतिषी ने भाविनी और रेखचन्द के विवाह का योग बताया। भाविनी ने यह बात सुनी। रेखचन्द के नाम से ही उसे चिढ थी। अपने और उसके कुल का अन्तर भी उसे चिढाने के लिए काफी था। वह घर जाकर कोप-भवन मे सो गई। उसे गुस्से का कारण पूछा गया तो वह बोली—'इस धरती पर या तो रेखला रहेगा या मैं रहूगी।'

ऐसी और भी घटनाए हो सकती हैं। इनका सम्बन्ध सिद्धान्त के साथ नही है। वह रहेगा या मैं, यह सिद्धान्त नही बन सकता। सिद्धान्त की बात है—मैं भी रहू, वह भी रहे, मै भी जीऊ, वह भी जीए। यह सह-अस्तित्व अथवा सहावस्थान का सिद्धान्त है। धर्मशास्त्र इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

जीने का अधिकार सबका है

कुछ व्यक्तियो का आग्रह होता है कि वे जो कुछ कहते हैं, वही सत्य है। इस कथन मे सत्य खडित होता है। दूसरे का कथन भी किसी दृष्टि से सत्य हो सकता है, इस स्वीकृति के साथ जो प्रतिपादन किया जाता है, वही सत्य होता है।

सूरज का प्रकाश कही भी हो, वह प्रकाश ही होता है। मेरे घर मे जो प्रकाश है, वही सूरज का प्रकाश है, यह अभिनिवेश है। जहा अभिनिवेश होता है, वहा प्रकाश और सत्य भी निर्विवाद नही रह सकते।

यह सही है कि ससार के सब प्राणी समान नही होते। चेतना का विकास सबका एक जैसा नही होता। किसी प्राणी को एक स्पर्शन इन्द्रिय प्राप्त होती है और किसी को पांचो इन्द्रिया उपलब्ध हो जाती हैं। ऐन्द्रियिक विकास के आधार पर भी उनके विकास का भेद समझा जा सकता है। पर विकास कम होने के कारण उनके अस्तित्व का अस्वीकार नहीं हो सकता। क्या किसी गरीब व्यक्ति को जीने का अधिकार नही होता है? चेतना के स्तर पर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली नीति व्यवहार्य नही हो सकती। मनुष्य, पशु और पक्षी प्राणी है। उन्हे जीने का अधिकार है। इसी प्रकार सूक्ष्म जीवो को भी जीने का पूरा अधिकार है।

मनुष्य के साथ वनस्पति की तुलना

भगवान महावीर ने सूक्ष्म जीवो की सवेदनशीलता का निरूपण किया, उस समय विज्ञान की चर्चा नही थी। जब तक विज्ञान ने सवेदनशील उपकरणो का आविष्कार नही किया, सूक्ष्म जीवो की सुखानुभूति और दु.खानुभूति को पकडना सभव नही था। तीर्थंकरो के प्रति आस्था रखने वाले लोग उनकी वाणी को उतना ही सत्य मानते हैं, जितना अनुभव का सत्य मान्य होता है। तीर्थंकरो ने कहा—मिट्टी जीव है। वह घटती है, बढती है। जब तक शस्त्र का प्रयोग नहीं होता, वह सजीव रहती है। इसी प्रकार पानी, अग्नि, हवा और वनस्पति भी सजीव है। वनस्पति जीवो का जीवत्व अन्य स्थावर जीवो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है। इस सम्बन्ध मे आयारो के प्रथम अध्ययन मे विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

वनस्पति जीव जन्मना इन्द्रिय विकल मनुष्य की भाति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं। जन्मना इन्द्रिय विकल मनुष्य का छेदन-भेदन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है। इसी प्रकार वनस्पति जीवो को भी कष्ट का सवेदन

होता है। मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राणवियोजन करने पर उसे जैसी कष्टानुभूति होती है वैसी ही वनस्पति जीवो को होती है। वनस्पति जीवो की मनुष्य के साथ तुलना करते हुए भगवान महावीर ने कहा—

इमपि जाइधम्मय, एयपि जाइधम्मय
इमपि वुड्ढिधम्मय, एयपि वुड्ढिधम्मय
इमंपि चित्तमतय, एयंपि चित्तमतय
इमपि छिन्न मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति,
इमपि आहारग, एयंपि आहारग
इमपि अणिच्चय, एयपि अणिच्चयं
इमपि असासय, एयंपि असासय
इमंपि चयावचइय, एयंपि चयावचइय
इमपि विपरिणामधम्मय, एयंपि विपरिणामधम्मय ॥

मनुष्य जन्मता है, वढता है, चैतन्ययुक्त है, अनित्य है, छिन्न होने पर म्लान होता है, आहार करता है, अशाश्वत है, उपचित-अपचित होता है और विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है। इसी प्रकार वनस्पति भी जन्मती है, वढती है, चैतन्ययुक्त है, छिन्न होने पर म्लान होती है, आहार करती है, अनित्य है, अशाश्वत है, उपचित-अपचित होती है और विविध अवस्थाओ को प्राप्त करती है। इससे भी अधिक सूक्ष्म सवेदनो को पकडा जाए तो उसमे आक्रोश, भय, लज्जा, रोना, हसना आदि सभी मानवीय सवेग पाए जाते है।

वनस्पति के एक पौधे को मगल भावनाओ और मगल गीतो से भावित वातावरण मे रखा जाता है तो उसका विकास अधिक तीव्रता से होता है। इससे उसकी ऊचाई और पत्तियो के आकार मे भी अन्तर आता है। इसके विपरीत पौधे को नुकसान पहुचाने की भावना वाले व्यक्ति की उपस्थिति मात्र से वनस्पति के जीवो की आन्तरिक दशा वदल जाती है। ऐसे समय मे लिये ग्राफस इस तथ्य को प्रमाणित करते है।

वह कैसा जैन ?

जैनधर्म छह काय के जीवो का अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन होने पर भी इनके अस्तित्व मे सदेह करने वाला व्यक्ति कैसा जैन है, कहना कठिन है। जो छह जीव निकाय को नही समझता, वह उनकी हिंसा से उपरत कैसे हो सकेगा ? एक गृहस्थ को जीव निकाय का वोध होने पर भी

है। वह कभी धर्म नही हो सकती। परिहार्य हिंसा से वचना, अपरिहार्य हिंसा को हिंसा समझना और छोटे-बड़े सब जीवो के जीवित रहने के अधिकार को मान्यता देना जैनत्व की छोटी-सी पहचान है। इसके आधार पर व्यावहारिक जीवन मे भी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है।

१२. हिंसा की समस्या सुलझती है संयम से

हिमा की ममस्या नयी नहीं है। इसने हर युग मे मनुष्य को बेचैन किया है, अनिश्चिन्त किया है और असमाधिस्थ किया है। इसकी मार का प्रभाव दोनो पक्षो पर होता है। जिसकी हिंमा की जाती है, वह स्वय को असहाय समझ मकता है। पर जो हिंसा करता है, वह निश्चित रूप से असहाय होता है। हिंमा का फल भोगते समय उसको कोई भी आत्मीय जन त्राण-शरण नही दे सकता। इस मत्य को स्वर देते हुए तीर्थंकरो ने अपनी दिव्य ध्वनि मे गाया—**'एस खलु गथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।'** हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, मार है और नरक है।

हिंसा नरक है

हिंसा नरक है, यह केवल मिद्धान्त ही है या अनुभूत सत्य है? ऐसी जिज्ञासा अनेक लोगो को हो सकती है। जैन धर्म मे तत्त्वनिरूपण का अधिकार तीर्थंकरो का है। वे उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है, जो उनके अनुभव मे उतर जाता है। इस दृष्टि से उनके द्वारा निरूपित सिद्धान्त मे मन्देह को अवकाश ही नही रहता। इस सिद्धान्त की सत्यता का परीक्षण करना हो तो किसी कसाई के घर को देखा जा सकता है। उम कमाई की चर्चा मैं इम समय नही कर रहा हू, जो बकरे आदि पशुओ को मारता है। जो व्यक्ति दिन-रात आवेश मे रहता है, बात-बात पर क्रोध करता है, वह बडा कमाई होता है। ऐसे क्रोधी और लडाकू लोगो की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा गया है—

कंजरा ज्यू लड़बो करै नीच घरा रा बागा।
किस्या मिनखां मे मिनख छै, आनै पहिर्या ही कहियै नागा॥

कजर एक जाति है, जो लडाकू और कलहकार के रूप मे प्रसिद्ध है। इम जाति के लोग बात-बे-बात दिन-भर झगडते रहते हैं। ऐसे लोग वस्त्र

पहने हुए होने पर भी 'नागा' कहलाते हैं। इस प्रकार के लोगो का आवास-स्थल नरक नही तो क्या होगा ?

स्वर्ग और नरक में बदलाव संभव है

शास्त्रो मे वर्णित स्वर्ग और नरक की बात को एक बार छोड दें ता घर-घर मे स्वर्ग और नरक के दृश्य देखे जा सकते हैं। स्वर्ग क्या है ? जहा आपस मे प्रेम होता है, सौहार्द होता है, सहयोग होता है, सुख-दुख मे साझेदारी होती है, सहिष्णुता होती है और ईमानदारी होती है, वह घर स्वर्ग होता है। जिस घर मे कलह, झगडा, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणो का वास होता है, सुख-दुख मे साझेदारी नही होती, पारस्परिक सहयोग की भावना नही होती, और एक-दूसरे को सहने का मनोभाव नही होता, वह घर नरक से भी अधिक दु खदायी होता है।

सुविहित व्यक्तियो के लिए इस ससार को ही मोक्ष बताया गया है। इसी प्रकार स्वर्ग और नरक का अनुभव भी इसी ससार मे हो जाता है। विवेकी लोग नारकीय वातावरण मे स्वर्ग की सुषमा उतार देते हैं और अविवेकी लोग स्वर्गीय सुखो मे नरक का सन्ताप घोल देते है।

बकरे को क्या, कसाई को बचाओ

हिंसा मृत्यु है। व्यक्ति शस्त्र हाथ मे लेकर जिस प्राणी को मारने के लिए उद्यत होता है, वह मरे या नही, मारने वाला पहले ही मर जाता है। इस सत्य को लोग समझ ले तो युद्ध, आतक और हत्या के अपराध समाप्त हो सकते हैं। पर किसे समझाया जाए ? कोई इस बात को सुनने के लिए भी तैयार नही है।

कुछ लोग आचार्य भिक्षु के पास गए और बोले—'कसाई बकरो को मारते हैं। हम उनको बचाते है। हमे क्या मिलेगा ?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'तुम बेचारे कसाइयो को बचाओ। बकरे तो स्वय बच जाएगे।' इस तथ्य को प्रतीकात्मक शैली मे प्रस्तुत करते हुए उन्होने कहा—'एक व्यक्ति कर्जा करता है और एक चुकाता है। कसाई कर्जा करता है और बकरा कर्जा चुकाता हैं। कसाई हिंसा से उपरत हो जाएगे तो हत्यारे नही होगे। हत्यारे की अनुपस्थिति मे बकरो का क्या बचाना। वे तो अपने आप बच जाएगे।' आचार्य भिक्षु का यह दार्शनिक चिन्तन स्पष्ट करता है कि हिंसा वह नही है, जिससे किसी जीव का प्राण-वियोजन होता है। हिंसा वह है, जो हत्यारे के

मन मे हिंसा के भावो का स्रोत है। जो हिंसा है, वही मौत है। इस दृष्टि से मौत उसकी होती है, जो हिंसा करता है।

यह हमारे किस काम का

हिंसा और क्रूरता सहोदरी वहने है। ये दोनो साथ-साथ रहती है। क्रूरता न हो और हिंसा होती रहे, यह सभव नही है। इसी प्रकार क्रूरता हो और हिंसा न हो, यह भी असभव बात है। क्रूर व्यक्ति को प्रतिबोध देना भी सरल काम नही है।

राजा अपने उद्दण्ड राजकुमार से परेशान था। इकलौता बेटा, वह भी अनुशासनहीन। उसकी क्रूर हरकतो से राज्य मे तहलका मच गया। शराब पीना, मास खाना, जुआ खेलना, मारपीट करना, राह चलते व्यक्ति को तग करना आदि उसकी दिनचर्या के नियमित अग बन गए। राजा ने अपनी ओर से बहुत प्रयास किया। पर राजकुमार की दिशा नही बदली।

राजा के पास प्रतिदिन राजकुमार की शिकायतें पहुचने लगी। राजा का मन अशान्त रहने लगा। वह भगवान बुद्ध के पास गया। उसने अपनी समस्या रखी। बुद्ध ने राजा को आश्वस्त किया और राजकुमार को उनके पास भेजने का निर्देश दिया। राजकुमार बुद्ध के पास आया। उसका चेहरा देखते ही बुद्ध को उसकी वृत्तियो का परिचय मिल गया। बुद्ध जहा बैठे थे, वहा एक नीम का पौधा था। बुद्ध ने नीम की एक टहनी मगाई। उससे दो-चार पत्तिया तोडी और राजकुमार के हाथो मे थमा दी। राजकुमार ने अपनी अलसाई आखो से उन पत्तियो को देखा और पूछा—'यह क्या है?' बुद्ध ने शान्तभाव से कहा—'राजकुमार! इन्हे चखकर देखो।' राजकुमार ने पत्तिया मुह मे रखी। उन्हें दातो से चवाते ही उसका मुह कडुवा हो गया। उसने पत्तिया थूक दी और पूछा—'ये पत्तियाँ किस पौधे की हैं?' बुद्ध ने नीम के छोटे से पौधे की ओर इशारा किया। राजकुमार वहा से उठा। वह पौधे के पास गया। उसने पास खडे लोगो से कहकर उस पौधे को उखडवा दिया।

राजकुमार वहा से जाने लगा तब तक बुद्ध वहा पहुच गए। उन्होने कहा—'राजकुमार! तुमने यह क्या किया? इस उगते पौधे को उखाड क्यो दिया?' राजकुमार बोला—'भन्ते! यह पौधा उगता ही इतना कडवा है। बडा होने पर तो इस की कडवाहट इतनी बढ जाएगी कि इसके आस-पास उगने वाले पौधो की मिठास भी समाप्त हो जाएगी। ऐसा पौधा हमारे किस काम का?'

वुद्ध ऐसे ही क्षणो की प्रतीक्षा मे थे । वे वोले—'कोई राजकुमार वचपन मे ही क्रूर और दुर्व्यसनी हो, वह वडा होकर क्या करेगा ? क्या उस निर्मम और नृशंस राजकुमार को समाप्त कर दिया जाए ?' वुद्ध के ये वचन राजकुमार को भीतर तक छू गए । उसे प्रतिवोध मिला । उसने अपने आपको वदलने का मानसिक सकल्प स्वीकार किया । उसका संकल्प फला । राजा की समस्या का समाधान हुआ । जनता को त्राण मिल गया ।

संयम जीवन है, हिंसा मृत्यु है

हिंसा मृत्यु है, क्रूरता मृत्यु है, इस सत्य को समझने के वाद व्यक्ति को अहिंसा की शरण मे जाने की वात सोचनी चाहिए । अहिंसा क्या है ? सयम अहिंसा है । संयम की साधना स्वीकार करने के लिए संकल्प करना होता है—'**असजम परियाणामि सजम उवसपज्जामि ।**' मैं असयम को छोडता हू और सयम को स्वीकार करता हू । क्यो ? क्योकि '**सयम खलु जीवनम् ।**' सयम ही जीवन है, अहिंसा जीवन है । आदमी जीना चाहता है । इसलिए उसे सयम या अहिंसा के पथ पर चलना होगा और इस विश्वास को पुष्ट करना होगा कि हिंसा मृत्यु है, असंयम मृत्यु है ।

वच्चे की शिक्षा जन्म से पहले

सयम की साधना कव करनी चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान मे अरस्तू की एक घटना वहुत मार्मिक है । एक महिला अरस्तू के पास गई और वोली—'मैं अपने वच्चे की शिक्षा कव मे शुरू करू ?' अरस्तू ने उस महिला की ओर एक प्रश्न फेकते हुए पूछा—'मा ! तुम्हारे वच्चे की उम्र क्या है ? महिला ने कहा—'मेरा वच्चा पाच वर्ष का हो गया है ।' अरस्तू वोला—'मा ! तुम पांच वर्ष लेट हो गई हो । वच्चे की पढ़ाई उसके जन्म से पहले शुरू हो जानी चाहिए ।'

जन्म से पहले का अर्थ होता है मा के पेट से । वच्चा गर्भ मे होता है । उस समय मा अपने ऊचे विचारो और प्रशस्त आचरणो से उसे अच्छे वोधपाठ दे सकती है । जैन आगमो मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं । महारानी धारिणी गर्भवती हुई । उसने अपनी जीवन-शैली को वदल लिया । वह सयम से रहती, धीरे वोलती, खाने मे सयम रखती, शान्त रहती, प्रभु का भजन करती और सत्सग करती । ससार की माताए अपनी जीवनशैली मे सयम का सहारा लेने लगें तो अनेक समस्याओ का सहज समाधान हो सकता है ।

संयम के पथ पर चलने वाले अभय होते हैं और असंयम को बढाने वाले भयभीत रहते हैं। जितना असंयम बढता है, पर्यावरण उतना ही दूषित होता है। पर्यावरण जितना दूषित होगा, छठा आरा उतना ही नजदीक होता जाएगा। अब तक जो हुआ, सो हुआ। मनुष्य अब भी जागे और संकल्प करे—'**इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएण।**' आज तक प्रमादवश जितना असंयम बढा है, वह अब नही बढेगा, यह छोटा-सा संकल्प मनुष्य का सुरक्षा-कवच बन सकता है। असंयम प्रमाद है, हिंसा है, मृत्यु है, और वह सब कुछ है, जो जीवन को दूषित करता है। हिंसा का एक रूप है कलह। कलह करने वाला व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से घाटे मे रहता ही है, भौतिक दृष्टि मे भी उसे काफी नुकसान उठाना पडता है। इसी बात की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—

कलह कदे आछो नही, लडतां लिछमी न्हासै।
दुख दारिद्रच घर मे घुसै, गुण रा पुंज विणासै॥

असंयम या हिंसा की ऐसी निष्पत्ति को समझने के बाद व्यक्ति अपनी दिशा बदल ले और संयम की साधना मे अग्रसर होता रहे तो एक सीमा तक हिंसा की समस्या का समाधान हो सकता है।

१३. आओ, जलाएं हम आत्मालोचन का दीया

मनुष्य के पास दो प्रकार की दृष्टियां है—सामान्य और विशेष । इन दृष्टियो के पीछे काम करने वाले नय हैं—संग्रह और व्यवहार। सग्रह नय अभेद का ग्रहण करता है । व्यवहार नय भेदग्राही है । सग्रहनय भेद मे अभेद देखता है । वर्गीकृत वस्तुओ को भी उनमे रहे सामान्य धर्म के आधार पर एक कर देता है । व्यवहार नय वैशिष्ट्य का दर्शन करता है। दृश्य एकत्व को गौण कर वस्तु मे स्थित विशेप धर्म का सग्रहण करता है ।

मनुष्य को दो वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है—वीर और दुर्वल। सग्रह नय वीर विशेपण प्राप्त सव मनुष्यो की गणना एक श्रेणी मे कर लेता है । उमके अनुसार वीरता नाम का गुण उन सवको एक सूत्र मे वाध देता है । पर व्यवहार नय इसमे हस्तक्षेप करता है । वह कहता है वीर होने मात्र से ये सव एक समान नही हो जाते । वीरता प्रशस्य भी होती है और अप्रशस्य भी । एक व्यक्ति राह चलते पशु या मनुष्य पर शस्त्र-प्रहार कर उसे मार देता है, क्या यह उसकी वीरता है ? अपने से दुर्वल और नि शस्त्र व्यक्ति पर वार करने वाला वीर प्रशसित नही हो सकता । शक्ति का दुरुपयोग उसे अप्रशस्य वना देता है। आयारो का सूक्त है—**एस वीरे पसंसिए जे वद्धे पडिमोयए**—जो वधे हुए मनुष्य को मुक्त करता है, वह वीर प्रशसित होता है ।

संस्कारो का वस्त्र और आत्मालोचन का ताप

मनुष्य वंधा हुआ है । किसमे ? परिवार से, समाज से, मामाजिक रीति-रिवाजो मे, परपराओ से, मानदण्डो से, मस्कारो और कर्मो से । वधना सरल है । मुक्त होना वहुत कठिन है । पहली वात तो यह है कि मनुष्य के मन मे मुक्त होने की इच्छा ही नही जागती । सौभाग्य से किसी के मन मे ऐमी इच्छा जाग जाए तो भी वह उम दिशा मे प्रस्थान नही कर सकता । प्रस्थान कर भी दे तो इतने व्यवधान आकर खडे हो जाते हैं कि विवश होकर मनुष्य को

मुडना पडता है। वन्धन-मुक्ति का उसका सपना, सपना ही रह जाता है।

परिवार, समाज आदि के वन्धन स्थूल है। सबसे सूक्ष्म वन्धन सस्कारो और कर्मों का होता है। सस्कार इतने रूढ हो जाते है, उनकी पकड से वाहर आने की कल्पना ही नही की जा सकती। समय वदलता है, परिस्थितिया वदलती हैं, समाज के मूल्य-मानक वदलते हैं, पर व्यक्ति के सस्कार नही वदलते। सस्कारो की चद्दर को कोई खीचता भी है तो व्यक्ति उसे मजवूती के साथ थाम लेता है।

किसी पर्वतारोही के पहने हुए वस्त्र उतरवाने के लिए सूरज और पवन मे होड लग गई। वे दोनो अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए तत्पर थे। पहला मौका पवन को मिला। उसने अपना वेग वढाना शुरू किया। ज्यो-ज्यो पवन का वेग वढा, पर्वतारोही ने अपने वस्त्र कसकर वाध लिये। पवन का सारा पुरुपार्थ व्यर्थ गया।

पवन के वाद सूरज को अपनी शक्ति का परिचय देना था। उसने तपना शुरू किया। पर्वतारोही ने एक वस्त्र उतार लिया। धीरे-धीरे उसका ताप वढा। शरीर पसीने से तर-वतर हो गया। वस्त्र पहने रहना कठिन हो गया। उसने पूरे वस्त्र उतारकर सूरज को विजयी वना दिया।

सस्कारो का वन्धन खोलने के लिए भी आवश्यकता है आत्मालोचन के तीव्र ताप की। जव तक ताप तीव्र नही होगा, उष्मा भीतर तक नही पहुचेगी, सस्कारो के वस्त्र उतारने की मानसिकता निर्मित नही होगी।

अपना दीया स्वय जलाओ

आत्मालोचन जीवन-विकास का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। हमने इस माध्यम का काफी उपयोग किया है। वैयक्तिक और सघीय—दोनो दृष्टियो से हमारे आत्मालोचन का क्रम चला। हम विकास के पथ पर चले, आगे वढे, रुके और मुडकर पीछे देखा। क्यो ? हम समीक्षा करना चाहते थे कि हमने क्या खोया और क्या पाया ? आत्मालोचन का दीया जलाकर देखना चाहते थे कि हमने क्या किया है और क्या करना अवशेप है ?

गुरुकुल मे वारह वर्ष पढने के वाद विद्यार्थी को घर जाना था। प्रस्थान के समय वह गुरु के चरणो मे पहुचकर वोला—'गुरुदेव ! मैं घर जा रहा हू। आप मेरा मार्गदर्शन करे।' गुरु ने उसको कुछ अमोघ जीवन-सूत्र वताए। जव वह गुरुकुल से चला तो गुरु ने प्रज्वलित दीपक हाथ मे लेकर उसे रास्ता दिखाया। गुरुकुल की सीमा तक वे साथ चले। विद्यार्थी उनके चरणो मे झुका। वह सोचने लगा—गुरुदेव तो अव लौटेंगे। पर उनके हाथ मे जो

दीपक है, वह मुझे मिल जाए तो मेरा रास्ता सुगमता से पार हो जाए।' गुरु ने उसके मन को पढ़ा, दीया हाथ में दिया और जब वह चलने लगा तो उसे बुझा दिया। शिष्य देखता रह गया। वह बोला—'गुरुदेव ! यह क्या ? आपका साथ छूट रहा है। फिर भी मैं आश्वस्त था कि कम-से-कम आपकी कृपा और सान्निध्य का प्रतीक दीया मेरे साथ रहेगा। पर आपने तो इसे भी बुझा दिया। अब मैं क्या करूंगा।' गुरु बोले—'अपना दीया स्वयं जलाओ। अपना पथ स्वयं आलोकित करो। यही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है।'

आत्मालोचन का दीया

पूज्य गुरुदेव कालूगणी ने बाईस वर्ष की अवस्था मे पूरे धर्मसघ का दायित्व मुझे सौंपा। मैं उनके सान्निध्य और मार्ग-दर्शन मे काम करना चाहता था। पर वे मुझे अकेला छोडकर चले गए। सभवत वे चाहते थे कि मैं अपना रास्ता स्वय बनाऊ और अपने विवेक से आगे बढू। उनकी इच्छा या कल्पना मे अवरोध उपस्थित करना मेरा काम नही था। मैं चला, सघ को साथ लेकर चला। समाज को साथ लेकर चला। स० १९९३ से २००४ तक ग्यारह वर्ष का समय पठन-पाठन का समय था, अन्तरग निर्माण का समय था। दायित्व-निर्वाह का एक कालाश पूरा हो गया।

दूसरा कालाश विकास की नयी लहर के साथ शुरू हुआ। उसमे कुछ नया सृजन करना था। नये निर्माण के लिए कुछ पुरानी परम्पराओं और व्यवस्थाओ को छोडना पडता है। पाने के लिए कुछ खोना भी पडता है। यह काम वही कर सकता है, जिसके पास आत्मालोचन का दीया होता है। हमने वह दीया जलाया। कुछ छोडना और कुछ जोडना शुरू किया। उसी का परिणाम है कि हमारी गति मे कही अवरोध नही आया।

आत्मालोचन का फलित

पहले हमारे सघ मे आचार्यों के सम्मान मे कुछ विशेष शब्दो का प्रचलन था, जैसे—खमाघणी, अन्नदाता, पृथ्वीनाथ, तीन त्रिलोकी के नाथ, महाराजाधिराज, हुजूरसा आदि। उस समय पर सामन्तशाही युग का प्रभाव था। राजाओ के लिए जिन शब्दो का प्रयोग होता, वे ही शब्द साधु-सन्तो और आचार्यों के लिए प्रयुक्त होने लगे। अन्यथा अन्नदाता, पृथ्वीनाथ जैसे शब्दो के साथ साधुओ का सबध ही क्या था ? बदलते हुए समय को देख उन शब्दो के प्रयोग मे परिवर्तन की अपेक्षा हुई। अपेक्षा को ध्यान मे रखकर

चिन्तन हुआ । इन शब्दो के स्थान पर सास्कृतिक शब्दो के प्रयोग का विचार किया गया । आखिर चिन्तनपूर्वक आचार्यप्रवर, आचार्यवर, गुरुदेव जैसे शब्दो के प्रयोग स्थिर किए गए । खमाघणी के स्थान पर वन्दे गुरुवरम् जैसे शब्द गढे गए । साधु-साध्वियो के लिए महाराज, बापजी आदि शब्दो के प्रयोग होते थे । उन्हे बदलकर मुनिश्री, साध्वीश्री जैसे शब्द सुझाए गए । बदलाव का सिलसिला चल पडा ।

इसी शृखला मे योगासन, खाद्यसयम, सहस्वाध्याय, सहजाप आदि प्रयोगो का सिलसिला चला । कुशल साधना, प्रणिधान कक्ष, भावियप्पा साधना, उपासक सघ, प्रेक्षाध्यान आदि हमारी प्रायोगिक यात्रा के ही कुछ पडाव है ।

आन्तरिक विकास की दृष्टि से प्रयोग हो और व्यवहार मे उनके प्रतिबिम्ब न आए तो उन प्रयोगो की सार्थकता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है । व्यवहार मे बदलाव की दृष्टि से पक्तिबद्ध बैठना, पक्तिबद्ध चलना, व्यवस्थित रूप से अर्हत वदना करना आदि अनेक उपक्रम चल पडे ।

साधु समाज सुसस्कृत और युगीन सदर्भो के अनुकूल हो, पर श्रावक समाज न बदले तो काम अधूरा रहता है । श्रावक समाज मे नैतिक और सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए अणुव्रत एव नयामोड कार्यक्रम को नये परिवेश मे प्रस्तुति दी । सामाजिक अन्धविश्वासो और कुरूढियो पर प्रहार किया गया । बहिनो की वेशभूषा और विधवा बहनो के साथ होने वाले दुर्व्यवहार को लेकर परिवर्तन की दिशाए खुली । कुल मिलाकर यह माना जा सकता है कि हमने जितना-जितना आत्मालोचन किया, हमारे चिन्तन, व्यवहार और कार्यक्रमो मे उसी अनुपात से विकास होता रहा । आज भी हम आत्मालोचन के दीये को हाथ मे लेकर आगे बढ रहे है ।

१४. द्रष्टा की आंख का नाम है प्रज्ञा

दो प्रकार के व्यक्ति होते है—द्रष्टा और अद्रष्टा। द्रष्टा भी देखता है; अद्रष्टा भी देखता है। पर दोनों के देखने मे अन्तर होता है। द्रष्टा भी खाता है, अद्रष्टा भी खाता है। पर दोनो के खाने मे अन्तर होता है। द्रष्टा भी पहनता है, अद्रष्टा भी पहनता है। पर दोनो के पहनने मे अन्तर होता है। क्यो? द्रष्टा और अद्रष्टा की दृष्टि मे अन्तर है, सोच मे अन्तर है, क्रिया मे अन्तर है और क्रिया के परिणाम मे अन्तर है। इस अन्तर को बनाए रखने के लिए ही आयारो मे कहा है—**'अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।'**

द्रष्टा का अर्थ है देखने वाला। पर आयारो का द्रष्टा आंख से देखने वाला नही है। विना आख देखा जा सकता है क्या? यह प्रश्न अस्वाभाविक नही है। द्रष्टा के भी आख होती है। वह है आन्तरिक आख। उसे अतर्दृष्टि कहा जाता है। वह तीसरा नेत्र है। जैन आगम उसे प्रज्ञा कहते है—**'पण्णा समिक्खए'**। प्रज्ञा से देखना साधारण वात नही है। प्रज्ञा जग जाने के वाद का देखना सवकी तरह देखना नही है। इसी दृष्टि से भगवान् महावीर ने कहा है—द्रष्टा का प्रत्येक क्रियाकलाप साधारण लोगो से भिन्न प्रकार का हो।

स्वाद पाप नही, पाप है राग और द्वेष

मूढ और चतुर व्यक्ति की सोच मे अन्तर हो सकता है, काम करने के तरीके मे अन्तर हो सकता है, पर प्रत्येक क्रियाकलाप में भिन्नता कैसे हो सकती है? भिन्नता का सम्वन्ध कार्य करने के तरीके से भी अधिक दृष्टिकोण के साथ है। उदाहरण के रूप मे स्वादिष्ट पदार्थ वनाना चाहिए या नही? यह एक प्रश्न है। स्वादिष्ट पदार्थ वनाने मे रस आता है तो वह राग है। राग पाप है। अस्वादिष्ट पदार्थ वनाया जाता है और उस पदार्थ के प्रति द्वेप जागता है तो वह भी पाप है। एक ओर राग, दूसरी ओर द्वेष। साधारण

व्यक्ति की प्रवृत्ति के पीछे राग या द्वेष की प्रेरणा रहती है। द्रष्टा न राग करता है, और न द्वेष। उसका तटस्थ दृष्टिकोण ही उसे अन्य लोगो की पक्ति से खीचकर वाहर खडा कर देता है। इसी तथ्य की ओर इगित कर कहा गया है—

सवण-नयन कर नासिका, है सवकी इक ठौर।
कहवो सुणवो समझवो चतुरन को कछु और॥

कान, आख, हाथ, नाक आदि शरीर के अवयव सव लोगो के एक ही स्थान पर होते हैं। किन्तु कहने-कहने मे, सुनने-सुनने मे और देखने-देखने मे वहुत वडा अन्तर रहता है। इस अन्तर को भी वे ही समझ सकते है, जिनकी प्रज्ञा जागृत होती है।

गुरु ने ली शिष्यो की परीक्षा

गुरु ने शिष्य को निर्देश दिया—'झोली लेकर आओ। भिक्षा के लिए जाओ। केरी लानी है।' शिष्य उलझ गया। वह सोचने लगा—'केरी को छूना भी नही है। इसे कैसे लाऊगा? आज गुरुदेव को क्या हो गया? अकल्प्य वस्तु मगाने का आदेश कैसे दिया?' शिष्य को विलम्ब करते देख गुरु ने दूसरे शिष्य से कहा—'तुम भिक्षा के लिए जाओ और केरी लाओ।'

गुरु का आदेश पाते ही शिष्य उठा। वह भीतर गया। उसने पछेवडी ओढी। पात्रिया पोछी। झोली मे डाली और गुरु के सामने आकर खडा हो गया। उसने कहा—'गुरुदेव! मैं भिक्षा के लिए जाता हू। इस हेतु आपकी आज्ञा है। आप कृपा कर वताए कौन-सी केरी लाऊ? मुरब्वे की या ओथाणे की?'

गुरु के निकट ही खडा पहला शिष्य यह वात सुन चौका। मुरब्बे और ओथाणे की केरी तो सचित्त होती नही। इसके लिए तो मैं भी पूछ सकता था। पर अव क्या हो? इस भूल को कैसे सुधारू? इस चिन्तन मे वह गुरु को वन्दना करना भी भूल गया।

गुरु ने दोनो शिष्यो को वैठने का निर्देश देते हुए कहा—'केरी की आवश्यकता नही है। मुझे तुम्हारा परीक्षण करना था। तुम्हारी श्रद्धा और समझ—दोनो की परीक्षा हो गई। एक ही वात का तुमने क्या अर्थ लगाया और इसने क्या समझा?' यह अन्तर शिक्षा का नही, प्रज्ञा का है।

भोग से निर्जरा होती है

भोग और त्याग मे जो अन्तर है, वह स्पष्ट है। भोग, वन्धन का कारण है और त्याग से वन्धन टूटता है। इस वात को सुनकर कोई आश्चर्य नही होता। पर भोग से निर्जरा और भोग से ही वन्धन—यह तथ्य विसगति पैदा करता है। विसगति हो सकती है, यदि इस कथन के पीछे कोई अपेक्षा न हो। अपेक्षाभेद से प्रतिपादित विरोधी दिखाई देने वाले तत्त्व भी व्यक्ति को सत्य के निकट पहुचा देते हैं। कहा भी गया है—

समदिष्टी के भोग निर्जरा हेत है।
मिथ्यात्वी के भोग कर्मफल देत है॥

भोग से कर्मफल की वात ठीक है। किन्तु वह निर्जरा का हेतु कैसे वनता है? इस सिद्धान्त को समझने के लिए वहुत गहराई मे उतरना होगा। पाच महाव्रतो का पालन करने वाले साधु-साध्विया देहधारी है। वे देह को पोपण देने की दृष्टि से क्या नही करते? वे भोजन करते है, पानी पीते हैं, कपडे पहनते है, दवा लेते है, अन्य अपेक्षाओ की पूर्ति भी करते हैं। उनके ये सव क्रियाए निर्जरा का हेतु वन सकती हैं। शर्त एक ही है—'**अण्णहा ण पासए परिहरेज्जा।**' वस्तु का भोग करते समय दृष्टिकोण भिन्न हो तो भोग उपयोग वन जाता है। मिथ्यात्वी का दृष्टिकोण गलत होता है, इसलिए उसका भोग वन्धन का निमित्त वनता है।

व्यक्ति की पहचान चरित्र से या वस्त्रो से

दृष्टिकोण मनुष्य के व्यक्तित्व का घटक है। जिनका दृष्टिकोण वहिर्मुखी होता है, वे वाह्य वस्तुओ के आधार पर व्यक्ति का मूल्याकन करते है। स्वामी रामतीर्थ एक वार अमेरिका गए। उन्होने भगवा वस्त्र पहन रखे थे। एक अमेरिकन महिला उनको देखकर हसने लगी। स्वामी रामतीर्थ वोले—'वहिन! मैं तुम्हारी हसी का कारण समझता हू।' महिला थोडी सहमकर वोली—'आपने क्या समझा?' स्वामीजी ने कहा—'हमारे देश मे व्यक्ति की पहचान, उसके चरित्र से होती है। लगता है, तुम्हारे यहा पहचान का माध्यम वस्त्र है।'

महिला को काटो तो खून नही। शर्म से उसकी आखे झुक गईं। उसकी हसी पर अनायास ही ताला लग गया। भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण उसकी यह स्थिति वनी। उसे एक महत्त्वपूर्ण सीख मिल गई कि किसी भी व्यक्ति का अकन मात्र उसकी वेशभूषा के आधार पर नही करना चाहिए।

महात्मा गाधी के गुरु

दृष्टि कहा से मिलती है? यह व्यक्ति की ग्रहणशीलता पर निर्भर है। व्यक्ति ग्राहक हो तो किसी भी घटना और वस्तु मे नयी दृष्टि ले सकता है। गाधीजी की टेविल पर एक खिलौना रखा हुआ था। किसी ने पूछ लिया—'वापू! आप खिलौने से क्या करते है?' गाधीजी ने उत्तर दिया—'किसने कहा, यह खिलौना है। इसको मैं अपना गुरु मानता हू। यह मुझे चीन मे मिला है।

जिज्ञासु सन्तुष्ट नही हुआ। उसने जानना चाहा कि खिलौना गुरु कैसे हो सकता है? गाधीजी ने उसको समझाते हुए कहा—'यह एक नही, तीन है। इसमे एक वन्दर ने कान वन्द कर रखे हैं, दूसरे ने आखें वन्द कर रखी हैं और तीसरे ने मुह वन्द कर रखा है। ये मुझे निरतर शिक्षा देते है—वुरा मत सुनो, वुरा मत देखो, वुरा मत वोलो। अव तो तुम समझ गए होगे कि यह खिलौना मेरा गुरु क्यो है?'

जो व्यक्ति दूसरो की वुराई सुनता नही, दूसरो की वुराई देखता नही और किसी के वारे मे कभी कोई अपशव्द वोलता नही, वह अपने जीवन को विशिष्ट गुणो से सवार लेता है। ऐसे व्यक्ति को देखकर वहुत कुछ सीखा जा सकता है। महात्मा गाधी वडे विलक्षण व्यक्ति थे। वे प्रायोगिक जीवन मे विश्वास करते थे। उन्होने अपने जीवन मे और आश्रम मे अनेक प्रकार के प्रयोग किए। उन प्रयोगो से वे स्वय वदले। उनके अनेक अनुयायी वदले। यह भी उनका एक प्रयोग था। वे जड और चेतन, हर वस्तु से शिक्षा लेना जानते थे। उनकी शक्ति किसी वुराई सुनने, देखने और वोलने मे नष्ट न हो, इसी उद्देश्य से वे अपनी टेवल पर तीन वन्दरो वाला वह खिलौना रखते थे।

सीता कैसी थी

वहरापन, अन्धापन, गूगापन आदि जीवन के लिए अभिशाप होते है। किन्तु अपेक्षाभेद मे इन्ही के द्वारा वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। रामायण का प्रसग है। श्रीराम-वनवास गए। उनके साथ सीता भी गई। वनवास मे सीता का अपहरण हुआ। श्रीराम ने अपहर्ता रावण के साथ युद्ध किया। युद्ध मे विजय प्राप्त कर वे सीता को ले आए। वनवास की अवधि पूरी हुई। वे अयोध्या लौट आए। वहा सीता को लेकर जनापवाद होने लगा।

श्रीराम उसे सहन नही कर सके। भावावेश मे आकर उन्होने सीता को जगल मे छोड़ने का आदेश दे दिया।

सेनापति कृतान्तमुख सीता को वनक्रीड़ा के नाम से जगल मे ले गया और राम का आदेश सुना दिया। सीता वह आदेश सुन मूर्च्छित हो गई। सचेत हुई तो वह व्यथा के अथाह सागर मे उतर गई। राम के नाम पर जीने वाली सीता को स्वप्न मे भी राम से ऐसी आशा नही थी। खैर, नियति को यही मान्य था। वह जहर का घूट पीकर जगल मे रह गई। सेनापति कृतान्तमुख ने अयोध्या लौटकर श्री राम के सामने सीता की व्यथा-कथा सुनाई तो श्री राम शोकविह्वल हो उठे। वे अनुताप की आग मे झुलसने लगे। सीता का निश्चल और निष्पाप चेहरा उनकी आखो के सामने घूमने लगा। वे सेनापति कृतान्तमुख को उलाहना देते हुए बोले—'सेनापति! तुम सीता को अकेली छोड़कर कैसे आ गए? उस घोर जगल मे उसका क्या होगा? वह क्या करती होगी? मेरी सीता सर्वथा निर्दोष है। उसे पापिनी और कलकिनी कहने वाला कौन है? मुझे तो पूछे कोई, कैसी है मेरी सीता?'

शोकसन्तप्त राम सीता के अन्तरग जीवन की एक झाकी दिखाते हुए कहने लगे—

> वहरी विकथा हेत पुरुष पर देखण आंधी,
> गूगी कहण कुवोल कही पिण न मिलै सांधी
> पर घर फिरवा पांगुली लूली पर धन लेण,
> एहवी गुणां री धारिणी कूड़ी कही कहो केण?

सीता वहरी है, अन्धी है, गूगी है, पगु है और लूली है। इतने गुणो मे संपन्न मेरी सीता को लांछित करने का साहस किसने किया?

आसक्ति का नाम है संसार

आसक्ति ससार है। आसक्त व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् नही होती। असम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति कभी संसार का पार नही पा सकता। उसे लक्षित कर आयारो मे कहा गया है—

> अणोहंतरा एते नो य ओहं तरित्तए,
> अतीरंगमा एते नो य तीरं गमित्तए
> अपारंगमा एते नो य पारं गमित्तए।

विपर्यास को प्राप्त होने वाले प्राणी ससारप्रवाह को तैरने मे समर्थ नही

हैं। वे तीर तक पहुचने मे समर्थ नही हैं, पार तक पहुचने मे समर्थ नही है। जो प्रवाह को नहीं तरेंगे, वे न तीर तक पहुचेंगे और न किसी प्रवाह को पार करेंगे। तीर और पार तक पहुचने के लिए अनासक्ति की नौका पर सवार होना होगा। इसके विना आसक्ति का ससार दुस्तर है और दुस्तर बना रहेगा।

१५. घर के भीतर कौन ? बाहर कौन ?

घर के भीतर रहना है या वाहर रहना है ? यह एक प्रश्न है। किसी भी प्रश्न पर हर व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से सोचने का अधिकार है। सव लोगो की सोच एक समान नही होती। इसलिए किसी प्रश्न का उत्तर भी एक जैसा नही हो मकता। कुछ लोग घर के भीतर रहना पसन्द करते हैं। उनका तर्क यह है कि वाहर रहने मे अनेक खतरे है। धूप सताती है, वर्षा वाधित करती है, यातायात की वहुलता में चलना कठिन होता है, दुर्घटना का भय रहता है, शोर वहुत सुनाई देता है, प्रदूपित वायुमण्डल स्वास्थ्य के लिए घातक है आदि।

कुछ लोगो का अभिमत है कि घर के वाहर रहने मे अनेक प्रकार की कठिनाइया हैं, पर कुछ सुविधाए भी हैं। वाहर जैसी खुली हवा और धूप मिलती है, भीतर कहा है ? सामाजिक सपर्को का विस्तार वाहर आने से ही हो सकता है। ऐसे कुछ और भी लाभ हैं, जो उनको वाहर रहने के लिए प्रेरित करते है।

एक दूसरा भी घर है

ईंट, चूने मे वने घर को व्यक्ति अपना घर मानता है। पर यह ऐसा घर नहीं है, जहा निरन्तर रहा जा सके। एक घर ऐसा भी होता है, जिसमे सदा रहा जा मकता है। पर रहना कठिन है। वह घर है व्यक्ति की अपनी आत्मा। जो आत्मा मे रहने की कला सीख लेता है, वह घर के वाहर रहे या भीतर, उसे कभी किसी प्रकार का कष्ट नही होता।

आत्मा मे रहने वाला व्यक्ति वाह्य पदार्थो मे मूड नही होता। इस मूढता से वचने के लिए ही 'आयारो' ने एक दृप्टि दी है—'दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा।' जो दृप्ट है—दिखाई देता है, उसके प्रति निर्वेद करो, वैराग्य करो। यहां दृप्ट अभिप्राय किसी दृश्य व्यक्ति या वम्तु मे नही है। दृप्ट का

मतलव है इन्द्रिय विपय। रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन चारो का समावेश हो जाता है दृष्ट मे।

सुन्दर रूप दिखाई देता है, आखे वही उलझ जाती है। सुगन्ध आती है, नासिका उसे सूघने के लिए आतुर हो जाती है। स्वादिष्ट पदार्थ सामने आता है, मुह मे पानी भर जाता है। अनुकूल स्पर्श मिलते है, शरीर पुलक उठता है। यह सव क्या है ? यह वहिर्विहार की निष्पत्ति है। चेतना अन्तर्मुखी वन जाए तो वाह्य के प्रति आकर्षण अपने आप छूट जाए। चेतना को अन्तर्मुखी वनाने का एक उपाय है वैराग्य। विरागता की साधना अपने घर मे रहने की साधना है, अपने आप मे रहने की साधना है।

मूर्च्छा टूटती है वैराग्य से

रूप, गन्ध, रस और स्पर्श व्यक्ति की चेतना को वाहर लाते है, इसमे चेतना का क्या दोप ? दोप है ये विपय, जो व्यक्ति को भटकाते है। यह एक दृष्टि है। हमारे आगम कहते है कि पदार्थ खराव नही है, दोपी नही है। इन्हे कोसने से क्या होगा ? खराव है इनके प्रति होने वाली मूर्च्छा।

ससार के पदार्थ ससार मे है। इनसे हमारा कोई अहित नही होता। तव तक अहित नही होगा, जव तक हम इनसे जुडेगे नही। पदार्थो का अपना अस्तित्व है, हमारा अपना अस्तित्व। दोनो के अस्तित्व को एक-दूसरे से कोई खतरा नही है। खतरा वढता है विचौलिये के आने से। यह विचौलिया तत्त्व है मूर्च्छा। मूर्च्छा टूटती है वैराग्य की चोट से। जव तक यह नही टूटेगी, आदमी परेशान रहेगा, दुखी रहेगा। अव देखना यह है कि वैराग्य किस रास्ते से और कैसे आए ?

वैराग्य के दो मार्ग

जीवन मे वैराग्य के उतरने के दो मार्ग है—शक्ति का जागरण और दृष्टिकोण का सम्यक्त्व। शक्तिशाली व्यक्ति वैराग्य के नये-नये प्रयोग कर सकता है। दुर्वल व्यक्ति मे प्रयोग करने की क्षमता नही होती। इसलिए शक्ति-जागरण की वात पर वल दिया गया है।

दूसरा तत्त्व सम्यक् दृष्टिकोण विशेप मूल्य रखता है। जव तक दृष्टि सम्यक् नही होती, व्यवहार सम्यक् नही हो सकता। सम्यक्त्व को धर्म की वुनियाद माना गया है। सम्यक्त्व का स्पर्श हुए विना जीवन की दिशा सही नही हो सकती। इस ससार मे जितने लोग भटकते है, दृष्टि के विपर्यास मे

भटकते हैं। इसलिए मिथ्यात्व को सबसे बडा पाप माना गया है।

दो प्रकार के पात्र होते हैं—सच्छिद्र और निश्छिद्र। छलनी की तरह छेदवाले पात्र मे कितना ही पानी डाला जाए, वह टिकेगा नही। पानी टिकाने के लिए निश्छिद्र पात्र आवश्यक होता है। उपदेश रूप पानी को जीवनरूप पात्र मे टिकाकर रखने के लिए उसे निश्छिद्र बनाना जरूरी है। जब तक ऐसा नही होता है, आर्षवाणी मे आप्लावित रहने पर भी जीवन पर उसका प्रभाव नही पडता।

क्या अर्थ है इनका ?

व्यक्ति मे ग्रहणशीलता और जागरूकता न हो तो बहुत बातें व्यर्थ हो जाती है। अक्खो नाम का एक भक्त हुआ है। उसने कुछ ऐसी बातो को एक स्थान पर संकलित कर लिख दिया—

> आंधो सुसरो घूंघट बहू, कथा सुणवानै आवै सहू,
> कहै किसूं नै समझै किसू, आंख रो औषध पूठे घिसुं।
> फूट्योड़ी हांडी नै टूट्योडी डोक, कहै अक्खो अै सगला फोक ॥

श्वसुर अन्धा हो तो पुत्रवधू का घूघट कोई अर्थ नही रखता। साधु-सन्यासी धर्मकथा करते हैं। अनेक लोग सुनने के लिए आते है। कथाकार कुछ कहता है और श्रोता कुछ समझता है। ऐसी कथा से किसी को क्या लाभ मिलेगा ? आख मे पीडा हुई। वैद्य को दिखाया गया। वैद्य ने दवा दी। दवा से आंख मे जलन न हो जाए, इस भय से उसे पीठ पर मला गया। आंख की दवा पीठ पर मलने से आख की पीडा का शमन कैसे होगा ? फूटी हुई हाडी मे कोई खिचडी बनाना चाहे तो कैसे बन पाएगी ? इसी प्रकार टूटी हुई डोक (डोयला) का क्या उपयोग हो सकता है ? भक्त अक्खोजी इन सबको व्यर्थ बताते हैं। सम्यक् दृष्टिकोण के बिना धर्म सुनने और धर्माचरण करने की बात भी इतनी ही अर्थहीन है। क्योकि केवल सुनने मात्र से कभी अर्थसिद्धि नही हो सकती।

राक्षस कौन था

एक गाव मे रामायण का पाठ होता था। बहुत लोग रामायण सुनने आते। एक बूढा चौधरी प्रतिदिन आता, आगे बैठता और तन्मय होकर सुनता। वह सबसे पहले आता और सबके बाद जाता था। रामायण का पाठ पूरा हुआ। कथाभट ने श्रोताओ से पूछा—'क्यों भाई ! कुछ समझ मे आया

या नही ? श्रोता वोले—'आपकी कथा सुनकर जैसा आनन्द मिला, वैसा कभी नही मिला। कथाभट ने अग्रिम पक्ति मे वैठे चौधरी मे पूछा—'चौधरी ! क्या समझा ?' वह बोला—'मैं सब कुछ समझ गया। केवल एक बात नही समझा।' कथाभट ने पूछ लिया—'कौन-सी बात नही समझे ?' चौधरी ने कहा—'आपने रामायण मे राक्षस की वात वताई। मैं यह नही समझा कि राक्षस कौन था ? राम राक्षस था या रावण ?'

चौधरी के इस कथन पर सभा मे हसी फूट पडी। कथाभट बोला—'राक्षस न राम था और न रावण।' चौधरी ने भोलेपन से पूछ लिया—'तो फिर राक्षस कौन था ?' कथाभट ने कहा—'या तो राक्षस तू है या मैं हू। तू इसलिए है कि चार महीनो तक निरन्तर रामायण सुनी और यह भी नही समझा कि राक्षस कौन है। मैं इसलिए कि तेरे जैसे बुद्धू भक्तो मे चार महीनो तक श्रीराम जैसे महापुरुषो का जीवन पढा।'

इस सन्दर्भ मे हमारा दृष्टिकोण भिन्न है। हम यह मानते है कि हमारे प्रवचन केवल श्रोताओ के लिए नही होते, अपने लिए भी होते है। श्रोता प्रवचन सुनकर कोई लाभ उठाए या नहीं, हमे तो निर्जरा का लाभ मिल ही जाता है। निर्जरा का लक्ष्य न हो तो प्रतिदिन सुनाना भी मुश्किल हो जाता है।

दूसरी वात, हजारो लोग प्रवचन सुनते है। उनमे सौ-पचास तो समझने वाले होगे। जितने लोग समझेगे, उनमे दस-पाच तो आचरण करेगे। यदि इतना हो जाता है तव भी हमारा श्रम सार्थक है। आज की हमारी चर्चा का सार इतना ही है कि व्यक्ति सम्यक्दृष्टि बने और दृष्ट पदार्थ के प्रति विरक्त हो जाए तो वह आवश्यक वस्तुओ का भोग करता हुआ भी अनासक्ति का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है।

१६. साधना की भूमिकाएं

भारोत्तोलन का अभ्यास करने वाले खिलाडी पहले पाच-सात किलो वजन उठाते हैं, फिर दस-बारह किलो उठाते हैं और अभ्यास को बढाते-बढाते चालीस-पचास किलो तक पहुंच जाते हैं। प्रथम दिन ही अधिक वजन उठाना सम्भव नही होता। यही वात आत्म-परिशोधन के उपायो की है। कोई साधक साधना प्रारम्भ करते ही वहुत ऊचे और सूक्ष्म प्रयोग करने लगे तो वह साधना मे उपस्थित वाधाओ से घवरा जाता है, पीछे हट जाता है या अपना मार्ग वदल लेता है। तीर्थंकर मनुष्य के इस स्वभाव से परिचित होते है। इसलिए वे उत्तरोत्तर आगे वढने का निर्देश देते हैं।

रास्ता एक अन्तर गति का

'आयारो' मे साधना का एक वहुत सुन्दर क्रम निर्धारित है—आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसजोगं हिच्चा उवसम—मुनि जीवन की साधना के लिए प्राथमिक रूप से दो अनुवध है—सम्वन्ध का त्याग और इन्द्रिय एव मन की उपशान्ति।

साधक पूर्व सम्वन्धो का त्याग करके ही साधना की धरती पर पहला पग रखता है। जव तक सम्वन्ध नही छूटते हैं, साधना की कल्पना भी नही की जा सकती। सम्वन्ध-त्याग के वाद उसका अगला पग उठता है, इन्द्रियो एव मन को उपशान्त करने का। घर, परिवार, भौतिक पदार्थ छोडने पर भी जव तक इन्द्रिया उपशान्त नही होती, मन शान्त नही होता, अगले पग उठ नही सकते।

यह साधना की पृष्ठभूमि है। इसका निर्माण होने के वाद साधक के लिए तीन भूमिकाए वताई गई हैं—आपीडन, प्रपीडन और निष्पीड़न। प्रथम भूमिका मे वह ध्यान का अल्प अभ्यास और श्रुत-अध्ययन के लिए आवश्यक तप करता है। यह भूमिका प्रव्रजित होने मे लेकर अध्ययन काल तक की है।

दूसरी भूमिका अध्यापन और प्रचार-प्रसार की है। इसमे ध्यान के नये प्रयोग

और लम्बे उपवासो का सिलसिला शुरू हो जाता है। पहली भूमिका मे साधक आपीडन—ईषत् पीडन तक पहुचकर रुक जाता है। दूसरी भूमिका मे वह कुछ आगे वढता है।

तीसरी भूमिका देह त्याग की है। इसमे दीर्घकालीन ध्यान और दीर्घकालीन तप किया जाता है। अध्ययन, अध्यापन, सेवा, प्रचार-प्रसार आदि दायित्वो को निभाने के वाद नितान्त आत्महित की प्रेरणा से साधक इस भूमिका पर उतरता है।

उक्त तीनो भूमिकाओ मे प्रवेश करने का रास्ता एक ही है। अन्तर है गति का। प्रथम भूमिका मे गति तीव्र होती है, दूसरी मे तीव्रतर होती है और तीसरी मे तीव्रतम हो जाती है।

क्यो वनता है कोई साधु ?

मनुष्य किसी भी दिशा मे चलना शुरू करता है, उसे सबसे पहले लक्ष्य का निर्धारण करना जरूरी है। लक्ष्य की निर्णीतता के विना वह कभी इधर जाएगा और कभी उधर। इस अस्थिरता मे उसका चलना और न चलना वरावर हो जाता है। लक्ष्य की स्थिरता होने के वाद ही मार्ग का चुनाव होता है।

साधु जीवन का स्वीकार सुविधावादी मनोवृत्ति मे नही हो सकता। साधु वनकर भी यदि कोई सुविधावादी वनता है तो वह अपने लक्ष्य मे भटक जाता है। साधु सुविधावादी न वने, इसका अभिप्राय यह नही है कि वह दुविधावादी वने। न उसे सुविधावाद काम्य होना चाहिए और न दुविधावाद। इन दोनो स्थितियो से ऊपर उठकर उसे अपने लक्ष्य से प्रतिवद्ध रहना है। साधु वनने का लक्ष्य क्या होता है ?

> नाहाराय न पानाय नाश्रयाय न वाससे।
> अस्माभि स्वीकृता दीक्षा न प्रतिष्ठोपलव्धये॥
> आत्मोदयाय साधुत्वमस्माभि स्वीकृत शुभम्।
> तेनात्मनि दृढा श्रद्धा समुन्नेया मुमुक्षुभि ॥

अच्छा भोजन, शीतल पेय, सुन्दर मकान, कीमती वस्त्र और प्रतिष्ठा के लिए कोई व्यक्ति घर नही छोडता। उसे रुचिकर भोजन मिले या सूखी रोटी, ठडा और मीठा पेय मिले या धोवन-पानी, कोठी मिले या कुटीर, वढिया वस्त्र मिले या घटिया, यश मिले या अपयश—जो कुछ मिले, उसी मे सतुष्ट रहना साधुत्व की पहचान है। क्योंकि साधु-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है आत्मोदय। इसलिए मुमुक्षु साधक आत्मा मे अपनी आस्था को प्रगाढ वनाता है।

तुलना गृहस्थ और साधु के सुख की

आत्मोदय मे जो सुख है, आनन्द है, उसे शब्दों मे अभिव्यक्त नही किया जा सकता। जिनके सामने आत्मोदय का लक्ष्य नही है, जो गृहस्थ जीवन जीते हैं, वे आर्थिक दृष्टि से कितने ही सम्पन्न क्यो न हो, भरे-पूरे परिवार से जुडे हुए हो, सामाजिक एव राजनीतिक क्षेत्रो मे प्रतिष्ठित हो पर उनकी स्थिति सतोपजनक नही होती।

हमने देखा है, वडे-वडे घरो के वडे-वूढे लोग अपनी उम्र के ढलान पर होते हैं तो उन्हे एकाकी जीवन जीना पडता है। पुत्रो, पुत्रवधुओ या पौत्रो के पास इतना समय नही रहता कि कोई उनकी सेवा मे रह सके। परिवार के साथ रहने की इच्छा अथवा अकेलेपन में रहने की अक्षमता के कारण जो लोग व्यावसायिक क्षेत्र मे जाकर परिवार के साथ रहते हैं, वे भी एकाकीपन की पीडा से उवर नही पाते। काश! ऐमे लोग स्वाध्याय, ध्यान आदि आलम्वनो के सहारे एकाकीपन की व्यथा से मुक्त हो पाते।

साधु-जीवन सव प्रकार की चिन्ताओ से मुक्ति का जीवन है। वे जितने सुखी होते हैं और कोई नही हो सकते। धन-वैभव से सुख मिलता तो साधु कभी सुखी नही हो पाते। किसी के पास कितना ही ऐश्वर्य हो जाए, वह सोना-चादी या हीरे-पन्ने नही खाता। इन्हे देखने से भी पेट नही भरता। फिर मनुष्य धन-सग्रह की अर्थहीन प्रतिस्पर्द्धा मे जाकर अपने दु ख को क्यो वढाता है? क्या वह अपने चिन्तन और व्यवहार मे वदलाव नही ला सकता?

साधना में आलम्वन आवश्यक है

गृहस्थ जीवन की अपनी समस्याए हैं। साधु वनने के वाद वैसी समस्याएं न हो, इसके लिए साधना की किसी-न-किसी भूमिका मे जुडना आवश्यक है। जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रतिमाधारी, एकलविहारी, यथालदक आदि भूमिकाएं हैं। इन विशिष्ट भूमिकाओ पर आरोहण करने की क्षमता सवमे नही होती। पर स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, सेवा, जनप्रतिवोध आदि अनेक उपक्रम हैं। कोई भी साधक इन उपक्रमो के सहारे अन्तर्मुखी वन सकता है।

जिस साधक के सामने कोई आलम्वन नही होता, वह अपने समय को सार्थक कैसे करेगा? उद्देश्यहीन व्यक्ति का समय इधर-उधर घूमने मे वीतता है, वातो में वीतता है अथवा आलोचना-प्रत्यालोचना मे वीतता है। गृहस्थ हो या साधु, निरुद्देश्य प्रवृत्ति से तो भटकन ही होगी। एक वार रास्ता छूटने के वाद, सही पथ से भटक जाने के वाद उसे पुन खोज पाना वहुत कठिन होता है।

लक्ष्य का निर्धारण और पथ का चुनाव होने के वाद उस पर दृढता से चलन

चाहिए। इसके लिए हमारे सामने आलम्बन सूत्र है—'**जाए सद्धाए णिक्खतो तमेव अणुपालिया**'—जिस प्रगाढ या प्रवर्धमान आस्था के साथ अभिनिष्क्रमण किया है, उसी प्रगाढता के साथ आचरण के क्षेत्र मे गति की जाए। ऐसे सूत्रो को सामने रखकर चलने वाला साधक निश्चित रूप से साधना की क्रमिक भूमिकाओ पर आरोहण करता हुआ मजिल तक पहुच जाता है।

१७. समाधि का सूत्र

समाधि की वात सुनने मे वहुत सुखद है, पर वहा तक पहुचने का रास्ता सुगम नही है। मनुष्य इन्द्रियो तक पहुचता है, मन तक पहुचता है, बुद्धि तक पहुचता है, पर उससे आगे उसकी पहुंच नही है। आत्मा की तो उसे अभी झलक ही नही मिली है। आत्म-साक्षात्कार के विना, आत्मा तक पहुचे विना, समाधि की वात तो की जा सकती है, किन्तु वह घटित नही होती।

समाधि का अर्थ है समाधान या तुष्टि। यह निर्विचारता की स्थिति मे घटित होती है। दो प्रकार के व्यक्ति निर्विचार हो सकते हैं—पागल और समाधिस्थ। पागल व्यक्तियो के मस्तिष्क मे विचार की तरगें निष्क्रिय हो जाती हैं। वह घण्टो-घण्टो तक निश्चेष्ट-सा पडा रहता है। वह अकारण हरकतें करता है और कारण उपस्थित होने पर शान्त हो जाता है। समाधिस्थ व्यक्ति विचारलोक से ऊपर उठ जाते हैं। वे इतने आत्मकेन्द्रित हो जाते है कि विचार नाम का तत्त्व वहा टिक ही नही सकता। शेप सभी प्रकार के सक्षम प्राणी विचारजगत् की परिक्रमा करते हैं।

मौत डराती है आदमी को

मृत्यु एक अवश्यभावी घटना है। यह जीवन का दूसरा छोर है। इस सत्य से परिचित होने पर भी मनुष्य मौत से डरता है। दो प्रकार के व्यक्ति मौत से नही घवराते—डाकू और सन्यासी। डाकू मौत से डरें तो कही डाका डाल ही नही सकते। वे मौत को मुट्ठी मे लेकर चलते है। मौत को सामने देखकर भी वे पीछे नही हटते। इस भूमिका पर खड़े दूसरे प्रकार के व्यक्ति हैं सन्यासी। सन्यास स्वीकार करने का उद्देश्य होता है—जन्म और मृत्यु की परंपरा से छुटकारा। इस उद्देश्य में सफलता उसी को मिलती है, जो अभय होकर साधना करता है।

सात प्रकार के भय वताए गए हैं—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात भय, वेदना भय, मरण भय और अश्लोक भय।

इहलोक भय—सजातीय भय, मनुष्य को मनुष्य से होने वाला भय।
परलोक भय—विजातीय भय, मनुष्य को तिर्यंच, देव आदि से होने वाला भय।
आदान भय—धन आदि के अपहरण से होने वाला भय।
अकस्मात् भय—वाह्य निमित्तो के विना अपने ही विकल्पो से होने वाला भय।
वेदना भय—पीडा आदि से होने वाला भय।
मरण भय—मौत की कल्पना या मौत के प्रसग से होने वाला भय।
अश्लोक भय—अपकीर्ति से होने वाला भय।

निश्चय और व्यवहार का समन्वय

समाधि या आत्मसमाधि का सूत्र खोजने से पहले आत्मा को समझना आवश्यक है। केवल आत्मा की वात भी एकागी है। उसका सम्वन्ध निश्चयनय के साथ है। निश्चय की चर्चा मे सलग्न होकर व्यवहार को विस्मृत करना उचित नही है। निश्चय का अपना मूल्य है और व्यवहार का अपना मूल्य है। दोनो की सापेक्ष मूल्यवत्ता को भुलाकर एक-एक को प्रधान या गौण मानने से उलझन वढती है।

हमारा काम है निश्चय और व्यवहार मे सामजस्य स्थापित करना। यह काम कुछ अधिक कठिन है। पर इसे कठिन मानकर छोडने से काम नही चलेगा। हम क्या, स्वय तीर्थकर भी इनमे सामजस्य स्थापित करते हैं। जव तक वे ऐसा नही करते, तीर्थ की स्थापना नही करते, तव तक तीर्थकर नही हो सकते।

तीर्थंकरो जितना सामर्थ्य साधारण आदमी मे नही होता। फिर भी यथा-शक्ति सामजस्य विठाने की वात की जा सकती है। क्योकि निश्चय को भूलना एक भूल है तो व्यवहार को भूलना दूसरी भूल है। मजिल तक पहुचने के लिए पडावो पर ठहरना वर्जित नही है। किन्तु पडाव को ही मजिल मान लिया जाए तो आगे वढने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

सन्यास के तीन लाभ

परिवार से विछुडा हुआ एक युवक जगल मे भटक गया। इधर-उधर घूमता-घूमता वह भूख-प्यास से क्लान्त हो गया। उसने एक पहाडी पर चढकर दूर-दूर तक देखा। कुछ दूरी पर उसे एक धूनी जलती हुई दिखाई दी। वह वहा पहुचा। उस धूनी के पास एक वावा वैठा था। युवक उसके निकट जा वैठ गया और वोला—'वावा! वडी जोरो से भूख लगी है। कुछ खाने को दो।' वावा को शिष्य की आवश्यकता थी। उसने कहा—'पहले भेष लो।' युवक तैयार हो गया। वावा के

आदेश से उसको गेरुवा वस्त्र, राख आदि सामग्री उपलब्ध हो गई। उसके सिर का मुडन करा दिया गया। शरीर पर राख लगा, गेरुवा कपडे पहन वह सन्यासी वन गया।

वेश-परिवर्तन और सिर-मुडन को ही संन्यास का रूप मानने वालो पर व्यग्य करते हुए कह गया है—

मूड मुडाया तीन गुण, सिर की भाजै खाज।
मांग्या तो लाड् मिलै, लोग कहै महाराज॥

मेरे लिए यही मोक्ष

युवक सन्यासी वनकर वावा के पास वैठ गया। भक्त आए, एक नये सन्यासी को देख उन्होंने कहा—'वावाजी ! यह कौन है।' वावा वोला—'यह एक नयी मूर्ति आई है।' भक्तो ने पूछा—'इसके लिए क्या व्यवस्था करें?' वावा ने कहा—'अधिक कुछ नही चाहिए। एक सोड, एक सोडती, एक कासा और भोजन मे गरम-गरम खिचडी, साथ मे घी का पात्र।' वावा के आदेशानुसार भक्तों ने सारी व्यवस्था कर दी।

नया शिष्य तीन दिनों से भूखा था। गरम-गरम खिचडी और घी को चवाने की भी जरूरत नही थी। उसने दोनो थालियां साफ कर दी। खा-पीकर वह सोड ओढ सो गया। ऐसी गहरी नीद आई कि सूरज चढने पर भी वह नहीं जागा। वावा ने उसे झकझोर कर उठाया। उठते ही उसने साष्टाग दण्डवत की। वावा ने पूछा—'वोलो, क्या अनुभव हुआ?' शिष्य वोला—'वावाजी ! वहुत आनन्द आया। ऐसी गहरी समाधि कभी नही लगी। अव तो एक जिज्ञासा है—

खावण मिलगी खीचडी, ओढण मिलगी सोड़।
चेलो पूछै गुरासां नै, मोख आ ही है क और?

सन्यास का उद्देश्य है मोक्ष। मैं पूछना चाहता हूं कि मोक्ष यही है या और कुछ? शिष्य का प्रश्न सुन वावा को हसी आ गई। वह वोला—'मूर्ख ! यह क्या मोक्ष है? उसके लिए तो वहुत तपना पड़ेगा, खपना पड़ेगा।' शिष्य ने कहा—'गुरुजी ! तपने-खपने का काम तो वहुत कठिन है। मेरे लिए तो यही मोक्ष है।' पडाव को मजिल मानने वालो का मोक्ष इससे वढ़कर क्या होगा?

समाधि है आत्मरमण की अवस्था

पडाव को मजिल मानने वाला आत्म-समाधि का अनुभव कैसे कर पाएगा? समाधि कोई वस्तु नही है कि उसे मांगकर ली जा सके। समाधि है आत्मरमण की अवस्था। जो व्यक्ति जितना अधिक आत्मा के निकट रहता है, वह उतना ही अधिक समाधि का अनुभव करता है। इन्द्रिय-सयम, अस्वादवृत्ति, अप्रतिवद्धता,

अनिदानता, असचय, अनासक्ति, अनुप्रेक्षा आदि ऐसे निमित्त है, जो समाधि मे सहयोगी वनते हैं। समाधि की स्थिति मे जो आनन्द या सुख मिलता है, वह चक्रवर्ती को भी नही मिल सकता। कहा गया है—

तणसथारणिसन्नोऽवि मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो।
ज पावइ मुत्तिसुह कत्तो त चक्कवट्टी वि ?

राग, मद और मोह से मुक्त मुनि तृणो के सस्तारक पर वैठकर जिस मुक्तिसुख को उपलब्ध करता है, वह चक्रवर्ती को कहा मिलता है ?

समाधियात्रा के चार पडाव

समाधि या सुख की खोज मे सलग्न व्यक्ति पहले आत्मा को जाने। जव तक आत्मा की पहचान नही होगी, अपनी पहचान नही हो पाएगी। आत्म-परिचय के अभाव मे व्यक्ति का चिन्तन पदार्थ तक अटक जाता है। साधना का पथ स्वीकार करने पर भी वह भोजन, वस्त्र, मकान आदि मे उलझ जाता है। आत्मा को पहचानने की तडप जागृत हो जाए तो भौतिक अनुकूलता-प्रतिकूलता की वाधा अपने आप दूर हो जाती है। श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—

अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपदा।
चेतन तन भिन्न लेखवी, ध्यान शुक्ल ध्यावदा ॥

अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो को समभाव से सहना, अनेक प्रकार के तप तपना, शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करना और शुक्ल ध्यान का प्रयोग करना—इन उपक्रमो से व्यक्ति के जीवन मे समाधि उतरती है। ये चारो पडाव है, जो व्यक्ति को उत्तरोत्तर गहरी समाधि मे ले जाने वाले है। इन पडावो को पार करने के वाद ही सपूर्ण समाधि या अन्तहीन आनन्द की उपलब्धि सभव है।

१८. ज्ञानी सदा जागता है

मनुष्य जीवन की मूल्यवत्ता के सूत्र

विवेकानन्द कहीं जा रहे थे। उनके पीछे एक बन्दर हो गया। विवेकानन्द ने मुड़कर देखा। बन्दर को पीछा करते देख वे शीघ्रता से चले। बन्दर की गति भी तेज हो गई। विवेकानन्द दौड़े। बन्दर भी दौड़ने लगा। किसी अनुभवी व्यक्ति ने विवेकानन्द को परामर्श दिया—दौडो मत, रुक जाओ। विवेकानन्द रुके, बन्दर भी रुक गया। दौड़ते हुए व्यक्ति का रुकना एक प्रकार का वदलाव है वदलाव जागृति का प्रतीक है। जो जागृत होता है, वही वदलने की वात सोचता है। सुषुप्ति मे चिंतन का स्रोत सूख जाता है और वदलाव की प्रक्रिया रुक जाती है। इसी दृष्टि से मैंने एक गीत लिखा है—

अव मानव जनम मिल्यो, जागो।
जीवन नै वदलो मत भागो॥
आ यौवन धन तन-तरुणाई।
ऐश्वर्य अलौकिक अरुणाई।
इक खिण में टूटै ज्यूं तागो॥
नोपत प्रयाण की वाज रही।
कोई काल गयो कोइ आज सही।
कुण जाणै कुण करसी सागो?
जो मानव जिसी करै करणी,
आखिर तो विसी पड़ै भरणी।
ई ठोड़ नही चालै ठागो॥
नर जीवन धोली चादर है,
चिहुं गति मे इण रो आदर है।
इण पर मत लागण द्यो दागो॥

जो जीवन री उन्नति चावो,
'तुलसी' संयम-पथ अपणावो।
सारी दिल की दुविधा त्यागो॥

मनुष्य जन्म जागरण के लिए स्वर्णिम अवसर है। जागृति का प्रथम सूत्र है वदलाव। वदलाव की भावना जगाने वाले प्रेरणा-विन्दु है—

- यौवन, धन, वैभव आदि सब चीजे क्षणभगुर हैं। कच्चे धागे की भाति ये एक क्षण मे टूट सकती हैं।
- मनुष्य के सिर पर मौत का नगारा वज रहा है। कोई कल चला गया। कोई कल चला जाएगा। यहा से जाते समय कौन साथ जाएगा ?
- मनुष्य जैसा करता है, वैसा ही भरता है। इस प्रसग मे किसी की धोखाधडी नही चल सकती।
- मनुष्य का जीवन उजली चद्दर है। चार ही गतियो मे मनुष्य गति का सवसे अधिक महत्त्व है। इसकी उज्ज्वलता पर किसी प्रकार का धब्बा नही लगाना है।
- मनुष्य जीवन मे उन्नति सभव है। उसके लिए सब दुविधाओ से मुक्त होकर सयम का आचरण अपेक्षित है।

इन सूत्रो को आदर्श मानकर जो व्यक्ति जागृत रहता है। जीवन मे वदलाव के लिए तत्पर रहता है, वह मनुष्य-जन्म को सार्थक वना लेता है।

जो सोता हुआ भी जागता है

सोना और जागना जीवन का अनिवार्य क्रम है। जागने से कोशिकाए टूटती है। सोने से नयी कोशिकाए वनती है। वैसे कोशिकाओ के चयापचय का क्रम निरन्तर चलता रहता है। फिर भी श्रम और विश्राम की स्थिति मे अन्तर आ जाता है। कोशिकाओ के चयापचय की वात किसी की समझ मे आए या नही, शरीर की दृष्टि से भी जागरण के वाद शयन और शयन के वाद जागरण आवश्यक है।

'आयारो' की दृष्टि इससे भिन्न है। उसके अनुसार कुछ प्राणी निरन्तर सोते है, जागते हुए भी सोते है और कुछ प्राणी निरन्तर जागते हैं, सोते हुए भी जागृत रहते है। ऐसे प्राणियो को पहचान देते हुए कहा गया है—

सुत्ता अमुणिणो सया।
मुणिणो सया जागरति॥

अज्ञानी सदा सोते रहते है। वे जागते हुए भी मूर्च्छा मे रहते है। ज्ञानी सदा जागृत रहते हैं। वे दिन मे जागते है, रात्रि मे भी जागते हैं। वे सोते हुए भी

जागरण करते हैं। ऐसे व्यक्ति विलक्षण होते हैं। किसी भी परिस्थिति मे वे मूढ नही बनते।

जो जागता है, वह वीर होता है

भगवान महावीर ने कहा है—'जागरवेरोवरए वीरे'—वीर वह होता है, जो जागृत है और वैर से उपरत है। मित्रो, हितैषियो और स्वजनो के प्रति मैत्री का व्यवहार कोई भी कर सकता है। जो शत्रुओ, अहित-सपादको और अपरिचितो के प्रति भी मैत्री की मंगल भावना से भरा रहता है, वीर उसे माना जाता है।

इस वात को उलटकर भी कहा जा सकता है—जो जागृत है और वैर से उपरत होता है, वह वीर होता है। जागृत का अर्थ यह नही है कि व्यक्ति रात्रि मे भी सोए नही। उसका जागना और अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो सोकर भी जागता है। विद्यार्थियो को सस्कृत का एक श्लोक सिखाया जाता है—

> काकचेष्टा वकध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
> अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पचलक्षणम्॥

विद्यार्थी की पहचान पाच लक्षणो से होती है— उसकी चेष्टा कौवे की तरह होती है। उसकी एकाग्रता वगुले जैसी होती है। उसकी नीद कुत्ते जैसी होती है। वह अल्पाहारी होता है और गृहत्याग कर गुरुकुलो या शिक्षाशालाओ मे रहता है।

प्रस्तुत सदर्भ मे श्वाननिद्रा को जागृति का सूचक माना जा सकता है। कुत्ता कही भी सोता है, सड़क के मध्य मे सोता है, तो भी नीद ले लेता है। वह नीद मे भी इतना जागरूक होता है कि थोडी-सी आवाज होते ही जाग जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो नीद पर विजय पा लेते हैं। नीद पर विजय की एक परिभाषा है— जव इच्छा हो सोना और जव इच्छा हो जागना। यह इच्छा-शक्ति का प्रयोग है। काम करते-करते दस मिनट का समय मिला। दस मिनट के लिए सोना और विना किसी सकेत के ठीक समय पर उठना, इसे कहते हैं सोते हुए भी जागना।

कितने है ऐसे संत

इच्छा-शक्ति का विकास कौन कर सकता है ? सोकर भी जागृत कौन रह सकता है ? सन्तो के लिए यह कहा जाता है कि वे सोते हुए भी जागृत रहते हैं। सन्त किसे माना जाए ? जो रजोहरण रखता है, मुखवस्त्रिका रखता है, वह सन्त होता है, यह नियामकता नही है। विना रजोहरण और विना मुखवस्त्रिका के भी सन्त हो सकते हैं। रजोहरण और मुखवस्त्रिका रखने वाले ही सन्त हो, यह

अनिवार्यता नही है ।,वास्तव मे सन्त वहुत कम होते हैं । राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभि प्रीणयन्त ॥
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य,
निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्त कियन्त ?

पवित्रता के पीयूष से जिनके मन, वाणी और शरीर आप्लावित रहते हो, जो उपकारो से तीन लोक को प्रीणित कर देते हो, दूसरो के छोटे-छोटे गुणो को जो पहाड जितने वडे मानकर प्रसन्न होते हो, ऐसे सन्त कितने है ? ऐसे सन्तो की सख्या कम भले ही हो, उनके चरित्र का आलोक सव जगह फैल जाता है ।

सन्तो की वोली मे अल्हडता

सन्त किसी भी देश और समाज मे हो, वे वडे अल्हड होते है। उनको समझना सवके वश की वात नही है । गुरु नानक किसी गाव मे गए । उन्होने वहा प्रवचन करना चाहा । गाववासियो ने उनके साथ अभद्र व्यवहार किया । वे गाली-गलौच पर उतरु आए । उन्होने पथराव भी किया । सभा जमी नही । नानक उठे और शिष्य से वोले—चलो, आगे चलें । गाववासी अपनी सफलता पर खुश हुए । नानक वहा से प्रस्थान करते-करते वोले—'मित्रो ! आवाद हो जाओ ।'

उस गाव से चलकर नानक दूसरे गाव मे पहुचे । वहा के लोगो ने हृदय विछाकर उनका स्वागत किया । गाव के सरपच की एक सूचना से पूरा गाव वहा एकत्रित हो गया । उन्होने शान्ति के साथ नानक का उपदेश सुना । उनका गुणानुवाद किया और उनको वहा ठहरने का अनुरोध किया । नानक वहा से विदा होते समय वोले—'मित्रो ! आप लोग उजड जाओ ।'

नानक के शिष्य कुछ समझे नही । वे असमजस मे पड गए । उन्होंने पूछा—'आपने अपने विरोधियो को आवाद होने और समर्थको को उजडने की वात कैसे कही ?' नानक ने शिष्यो की जिज्ञासा समाहित करते हुए कहा—'मैंने उन नासमझ लोगो से कहा कि वे एक ही स्थान पर वस जाए, आवाद हो जाए । अन्यथा जहा कही जाएगे, लोगो को विगाड देंगे । इस गाव के लोग इतने भले हैं कि जहा जाएगे, लोक-कल्याणकारी काम करेंगे । इस दृष्टि से इनको कहा कि ये विखर जाए, पूरे देश मे फैल जाए ।'

सन्तो की अल्हडता उनकी वोली और व्यवहार दोनो से झलकती है । उनकी साधारण-सी वात भी समझने मे कठिनाई होती है, तो जीवन और जगत् के गूढ

रहस्यो को समझना कितना कठिन है, यह कल्पना ही की जा सकती है।

सज्जनता का खिताव नही मिलता

सन्तो का व्यक्तित्व असीम होता है। उस असीमता या विराटता को तोलने के लिए कोई वटखरे नही है। व्यक्ति स्वय अपनी वृत्तियो की तुला पर तुल सकता है। उसकी वृत्तियो मे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का उभार है या नही ? वह किसी की प्रतिकूल हरकत को सहन कर सकता है या नही ? वह अपनी दुर्वलताओ को स्वीकार कर सकता है या नही ? यदि उसे दुर्वलताओ का अहसास हो जाता है तो वह उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है या नही ? इन सव विन्दुओ, कसौटियो पर जो खरा उतरता है, वह अपनी सन्तता को उजागर कर सकता है। अन्यथा सन्त वनने के लिए कोई सर्टीफिकेट तो मिलता नही है, जिसे दिखाकर सन्तपना प्रमाणित किया जा सके।

वादशाह लोगो को खिताव वहुत वाटता था। एक व्यक्ति उसके पास जाकर वोला—'जहापनाह ! आप मुझे सज्जनता का खिताव दीजिए।' वादशाह ने कुछ क्षण सोचकर कहा—'मैं वहुत सारे खिताव दे सकता हू, पर यह नही दे सकता।' वादशाह के इस कथन से यह रहस्य खुलता है कि सज्जनता या साधना जैसी उपाधियां दी नही जा सकती। इन्हे तो भीतर से प्रकट करना होता हैं।

कोई व्यक्ति मेरे पास आकर कहे—'मुझे साधु वना दें।' मैं उसका मुडन कर सकता हू, उसे मुखवस्त्रिका, पछेवड़ी, रजोहरण आदि उपकरण दे सकता हू, शिक्षा दे सकता हूं, अध्ययन करा सकता हूं पर साधु कैसे वना सकता हू ? साधु वनना व्यक्ति के अपने हाथ की वात है। वह स्वय ही होता है अपने भाग्य का विधाता। उसकी अपनी मानसिकता नही है, तैयारी नही है, पुरुपार्थ नही है तो दूसरा कोई क्या कर सकता है ?

योगो भवति दु:खहा

सन्त योगी होता है। उसकी चर्या व्यवस्थित होती है। उसका आहार-विहार सयत होता है, कर्म मे उसका पुरुपार्थ संयत होता है, उसका सोना और जागना संयत होता है। संयम मे भावित व्यक्ति की योग-साधना उसके दु खो का नाश करती है। गीता का श्लोक है—

> युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेप्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दु खहा ॥

संयम न हो तो कितनी ही यौगिक क्रियाए की जाए, कितने ही अनुष्ठान किए जाएं, कितना ही तप तपा जाए, किनना ही जप किया जाए, कितना ही स्वाध्याय

किया जाए और कितना ही श्रमण किया जाए, दु खो से छुटकारा नही मिल सकता। दु ख-मुक्ति का एकमात्र उपाय है सयम। सयम का अर्थ है जागरूकता। जागरूकता का सम्वन्ध है अन्तर्मुखता से। अन्तर्मुखी या जागरूक व्यक्ति कभी प्रमाद नही करते। इसी दृष्टि से कहा गया है कि जो मुनि है, ज्ञानी है, वह सोता हुआ भी जागृत रहता है।

१९. मूल पूंजी की सुरक्षा का उपाय

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। इसमे विरोधी और अविरोधी अनेक युगल है। क्रोध और क्षमा, अभिमान और विनम्रता, माया और सरलता, हिंसा और अहिंसा, करुणा और क्रूरता, संतोप और असतोष आदि ऐसे द्वद्व हैं, जिनको विरोधी माना जाता है। विरोधी होने के कारण इनके सहअस्तित्व मे भी विश्वास नही होता। पर स्याद्वाद एक ऐसा तत्त्व है, जो विरोध मे भी अविरोध का प्रतिपादन कर देता है। साप और नेवला, विल्ली और चूहा जन्मजात शत्रु है। ये कभी एक साथ नही रह सकते। किन्तु व्याकरण के सूत्र 'नित्यवैरिणाम्' ने इनको एकत्व मे वांध दिया। यह अपेक्षाभेद की दृष्टि है। इस सापेक्ष दृष्टि से किसी भी स्थिति मे सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

सुख का स्रोत है सन्तोष

संतोप एक जीवन-मूल्य है। इसे सुख का हेतु माना गया है। असतोप को दु ख का सर्जक स्वीकार किया गया है। योगशास्त्र का एक श्लोक है—

असंतोषवत. सौख्यं क्व शक्रस्य क्व चक्रिण ।
जन्तो· सन्तोपभाजो यदभयस्येव जायते ॥

स्वर्ग का इन्द्र और चक्रवर्ती सम्राट् भी यदि सतुष्ट नही है तो उनको वैसा सुख नहीं मिलेगा, जैसा सतोप रखने वाले को मिलता है। ग्रन्थकार ने यहां उदाहरण के रूप मे सम्राट् श्रेणिक के पुत्र और महामात्य अभय को प्रस्तुत किया है।

अभयकुमार विलक्षण व्यक्ति था। किसी भी स्थिति मे वह आतुर और असतुलित नहीं होता था। सम्राट् श्रेणिक जल्दवाजी मे कोई गलत निर्णय ले लेते, अभयकुमार उसे भी सुधार देता था। वह कर्त्तव्य के प्रति समर्पित था। एक ओर राजकुमार, दूसरी ओर महामात्य। फिर भी सादा और सहज जीवन। अभयकुमार की भाति संतोप से जीने वाले व्यक्ति को जिस अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है,

उसकी तुलना मे ससार के मव सुख अकिंचित्कर हैं। अभय को आदर्श मानकर चलने वाले सतोप मे ही सुख का अनुभव करते हैं।

झूठी महत्त्वाकाक्षा मे सुख कहां

असतोप निपेधात्मक भाव है। वहुत कुछ पाकर भी कुछ नही पाने का मनोभाव व्यक्ति को दिनरात उद्वेलित करता है। राजा रावण के पास किस वस्तु की कमी थी। वहुत वडा साम्राज्य था। वहुत वडी सेना थी। पर वह सतुष्ट नही था। अपने अन्त पुर से उसको सतोप नही था। अन्यथा वह सीता का अपहरण क्यो करता ?

मनुष्य की आकाक्षाओ का विस्तार इतना अधिक होता है कि वह कही रुकता नही है। उसमे कोई क्षमता हो या नही, वह नाम चाहता है, यश चाहता है। ठाकुर साहव कही जा रहे थे। मार्ग मे चौधरी उनके साथ हो गया। उसने पूछा—'ठाकुर साहव ! आपका नाम क्या है ?' वे वोले—'केसरीसिंह।' नाम सुनकर चौधरी चौंका। उसने सोचा—'ये मुझे डराने के लिए ऐसा नाम वता रहे है। पर मैं डरूगा नही। यदि इन्होने मेरा नाम पूछा तो मै भी लम्वा-चौडा नाम वताऊगा।' उमने मन-ही-मन अपना नाम सोच लिया और प्रतीक्षा करने लगा कि कव ठाकुर साहव नाम पूछें और कव वह वताए।

ठाकुर साहव ने कुछ पूछा नही तो चौधरी वोला—'ठाकुर साहव ! आपने मेरा नाम नही पूछा ?' ठाकुर साहव ने कहा—'वता भाई ! क्या नाम है तेरा ? चौधरी वोला—'मेरा नाम है—नौ नाहर, वारह चीते, दो मारणी गाय के सीग, दो ओडी विच्छू।' ठाकुर साहव को नाम मुनकर हसी आ गई। पर उन्हे कुछ लेना-देना तो था नही। वे चलते रहे। उधर चौधरी अपना नाम वताकर खुश हो रहा था।

ठाकुर और चौधरी माथ-साथ चल रहे थे। आगे नदी आ गई। ठाकुर तैरना जानते थे। वे चले और गहरा पानी आया तो तैर कर नदी पार कर गए। चौधरी कुछ दूर तक चला। पानी अधिक आने पर वह चल नही सका। तैरना उसने कभी सीखा नही था। पैर लडखडाने लगे तो वह चिल्लाया—'ठाकुर साहव ! वचाओ।' ठाकुर वोले—'मैं तुम्हे वचाने नही आ सकता। तुम तो नौ नाहर और वारह चीते हो। मुझे खा जाओ तो ।' चौधरी की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। वह रुआसा होकर वोला—'यह मेरा नाम नही है। मैं आपमे झूठ वोला था।' ठाकुर ने पूछा—'क्या नाम है तुम्हारा ?' वह वोला—'मेरा नाम तो पिसकण है।' ठाकुर साहव ने उसके पास पहुचकर उसे वचाया। उसको सीख देते हुए उन्होंने कहा—

'मूर्ख। नाम वड़ा करने से क्या होता है? काम करना सीखो। काम वड़ा होगा तो नाम अपने आप हो जाएगा।'

असंतोष भी मूल्यवान् है

असंतोष व्यक्ति को दु खी ही नही वनाता, पतन के गर्त मे भी धकेल देता है। पर यह तथ्य सव जगह समान रूप से लागू नही होता। कही असंतोष से विकास मे वाधा आती है तो कही संतोष भी प्रगति मे अवरोध उपस्थित करता है। **असतुष्टो द्विजो नष्ट संतुष्टश्चापि पार्थिव:**—ब्राह्मण असंतोष के कारण वरवाद होता है और राजा सतुष्ट होकर अपना अहित करता है। इस दृष्टि से सतोष और असंतोष—दोनों का सापेक्ष मूल्य है।

शिक्षा के क्षेत्र मे असंतोष वहुत काम का है। विद्यार्थी जिस विन्दु पर अपने ज्ञान से सतुष्ट होता है, विकास का द्वार वही वन्द हो जाता है। कलाकार संतुष्ट होकर अपनी कला को नया निखार देना भूल जाता है। साधनारत साधु संतुष्ट होकर साधना की भूमिकाओ का मार्ग वन्द कर लेता है। लेखक और कवि जिस दिन अपनी रचनाओ मे संतोष कर लेते हैं, उनके लेखन और कवित्व को जंग लग जाता है। इन सव स्थितियो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि विकास के उपलब्ध अवसरो से संतुष्ट न होने वाला व्यक्ति ही कीर्तिमान स्थापित करता है। जो यह समझता है कि उसने सव कुछ पा लिया, उसके पुरुषार्थ की ज्योति मद हो जाती है।

विकास, ह्रास और मूल स्थिति

विकास की वात सवको प्रिय लगती है। सारा संसार विकास की दौड़ मे हिस्सा ले रहा है। हर राष्ट्र का यह सपना होता है कि वह विकास के चरम शिखर पर पहुच जाए। शिखर तक पहुचने की वात किसी के लिए सभव हो या नही, अपनी मूल स्थिति की सुरक्षा भी सफलता का एक पडाव है। विकास के नाम पर मूल पूजी को खोने वालो की गणना मूढ लोगो मे की जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

जहा य तिन्नि वणिया मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाह एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलं पि हारित्ता अ।गओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह॥

तीन व्यापारी अपने घर से पूजी लेकर चले। एक व्यापारी ने पूजी वढाई। दूसरे ने मूल पूजी सुरक्षित रखी। तीसरा व्यापारी मूल पूजी गवाकर घर लौटा।

यह एक प्रतीक है व्यवहार के धरातल पर। धर्म के क्षेत्र मे अनुचिन्तन किया जाए तो वहा भी तीन प्रकार की स्थितिया बनती है—मनुष्य जन्म मूल पूजी है। देवगति लाभ है। नरक तथा तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होना मूल को खोना है। मनुष्य, मनुष्य बना रहे यह मूल की सुरक्षा है। कोई विकास नही कर सके तो कम से कम मूल की सुरक्षा अवश्य करे। मनुष्य जन्म पाकर मानवीय मूल्यो की उपेक्षा करने वाला अपनी मूल पूजी की उपेक्षा करता है, इस बात को ध्यान मे रखकर मनुष्यता के गौरव को सुरक्षित रखना आवश्यक है।

विकास की ओट मे पलता है विनाश

बहुत बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य बात करता है विकास की पर गति करता है ह्रास की ओर। यह दोहरी मार है। इसे झेलना अधिक कठिन होता है। साइस और टेक्नोलॉजी के युग मे मनुष्य सपना देखता है अभूतपूर्व विकास का। किन्तु यह विकास उसके लिए घातक प्रमाणित हो रहा है। चीटियो के पख निकलते है। देखने वाले को लगता है कि वह उनका विकास है। पर वास्तव मे वह उनकी मौत का पैगाम है। कहा भी जाता है—

पखाली कीडी तणां।
मूआ मे दिन जाय ॥

मनुष्य ने यात्रिक दासता स्वीकार कर अपने चारो ओर मौत के साए खडे कर लिये है। जितना विकास, दुर्घटनाओ का उतना ही अधिक खतरा। खतरो मे भरी जीवन की वादियो मे मनुष्य सतुष्ट कैसे हो सकता है? जो लोग साधनसपन्न हैं, वे विलासिता की दिशा मे अग्रसर हो रहे हैं और जो अभाव मे पीडित हैं, वे क्रूर बनते जा रहे हैं। क्रूरता और विलासिता मानव जाति के माथे पर कलक है। जब तक इस कलक को नही धोया गया, मनुष्य की दिशा नहीं बदल सकेगी। मेरा परामर्श यह है कि आधुनिक विकास के नाम पर विनाश के जो साधन विकसित किए जा रहे हैं, एक बार उन सबको गौण करके मनुष्य अपनी मूल स्थिति की सुरक्षा के लिए जागरूक रहे, मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करे और विलासिता एव क्रूरता के जनक असतोष की लगाम अपने हाथ मे ले सके तो मानव जाति को त्राण मिल सकता है।

२०. भोगातीत चेतना का विकास

चेतना के दो रूप हैं—भोगवादी और भोगातीत। भोगवादी चेतना पदार्थाभिमुख होती है। अधिक-से-अधिक पदार्थों का उत्पादन, संग्रह और उपभोग। इसी धरती पर फलती-फूलती है उपभोगवादी सस्कृति। पदार्थ का भोग एक वात है और पदार्थ को ही सव कुछ मान लेना एक दूसरी वात है। एक समय था, जब मनुष्य के जीवन का आधार था सयम। वह वहुत थोड़े साधनो से अपना काम चला लेता था। सयम का सिद्धांत गौण हुआ। आवश्यकताओ का विस्तार हुआ। आकाक्षाओ का जाल विछा। उपभोग्य पदार्थों मे वृद्धि हुई। मनुष्य की भोगवादी चेतना वही अटक गई। उसे पदार्थ की पकड से मुक्त होने का मौका नही मिला। भोगवादी चेतना ने पदार्थो को वढाया और पदार्थों ने चेतना को वाध लिया। चेतना की तेजस्विता कम हुई। भोगवादी मूल्य प्रतिष्ठित हो गए। समस्या का मूल सूत्र यही है।

भोग कौन करता है?

चेतना और भोगवादी, इन दो शब्दो का एक साथ प्रयोग संदेह खडा करता है कि चेतना भोग करती है क्या? इस प्रश्न के उत्तर मे प्रतिप्रश्न उठता है कि चेतना भोग नही करती तो क्या अचेतन भोग करता है? क्या किसी ने अचेतन को भोग करते हुए देखा है? इस सचाई को हमे नही भूलना है कि चेतना के अनेक स्तर होते है। वीतराग चेतन है तो सराग व्यक्ति भी चेतन है। सिद्ध चेतन है तो अव्यवहार राशि का जीव भी चेतन है। भोग छोडने वाला चेतन है तो भोगो मे आसक्त रहने वाला भी चेतन है। इसी दृष्टि मे आयारो मे कहा गया है—**'भोगामेव अणुसोयंति'**—अजितेन्द्रिय पुरुष भोग के विपय मे ही सोचते रहते हैं। यह भोगासक्ति उन मनुष्यों के होती है, जो भोग के परिणाम को नही जानते।

भोगासक्त मनुष्य की वुद्धि विपरीत हो जाती है। विपरीत वुद्धि पतन के लिए मार्ग खोल देती है। जो वुद्धि मनुष्य के विकास का साधन वनती है, वही

ह्रास मे निमित्त बन जाती है। जिससे निर्माण होता है, उसी से ध्वस हो जाता है। खाना-पीना, लेटना-बैठना, सुनना-सुनाना कौन नही करते? क्या वीतराग भोजन नही करते है? क्या वे लेटते नही हैं? क्या किसी की बात नही सुनते? श्वेताम्बर आगमो के अनुसार वीतराग भी आहार करते हैं। दिगम्बर परम्परा केवलज्ञानी के भोजन की बात स्वीकार नही करती। केवली के बिना भी साधु अनेक श्रेणियो मे विभक्त होते है। प्रमादी भी साधु होते हैं, अप्रमादी भी साधु होते हैं। वे सब भोजन करते हैं। पर उनका खाना भोग नही है।

जितना भोग, उतना ससार

हमारे सामने दो दृष्टिया हैं—निश्चय और व्यवहार। व्यवहार मे भोजन को ही भोग मान लिया जाता है। निश्चय दृष्टि के अनुसार भोजन भोग नही है। भोग हैं भोजन के प्रति होने वाली आसक्ति। जिस व्यक्ति मे आसक्ति होती है, वह भोगी है। इसका फलित यह है कि भोगी भोग कर सकता है। अभोगी कभी भोग नही करता। 'भोगी भमइ ससारे'—चूकि भोगी भोग करता है, इसलिए ससार मे परिभ्रमण भी वही करता है। भोग छूटते ही ससार छूट जाता है। जितना भोग, उतना ससार। जितना अभोग, उतना मोक्ष। इस सिद्धात को समझकर व्यक्ति आसक्ति से ऊपर उठे, ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास करे, तो वह अपने ससार भ्रमण की सीमा कर सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि भोगी भटकता है तो भोग को छोड दिया जाए। यह बात कहने मे जितनी सरल है, करने मे उतनी ही कठिन है। सब लोग भोग से उपरत हो भी नही सकते। अपेक्षा एक ही है कि भोग के साथ अभोग को भी ध्यान मे रखा जाए। जहा अभोग की विस्मृति होती है, कठिनाई वही बढती है।

जितना भोग उतनी तृप्ति—यह धारणा व्यक्ति को भोगाभिमुख बनाती है। आज भोग की प्रचुर सामग्री सुलभ हैं। भोगप्रधान वातावरण है। अखबार, टी० वी०, रेडियो, सिनेमा आदि मे भोग की चर्चा है। आपसी सवादो का सिलसिला भी भोग के आधार पर चलता है। ऐसी स्थिति मे अभोग की ओर किसी का ध्यान भी कैसे जाएगा? लगता है, भोगवादी मनोवृत्ति की बीमारी लाइलाज होती जा रही है।

जहर-मिश्रित छाछ प्रभावहीन

मानसिकता समस्या का मूल है। एक व्यक्ति जहर पीता है और मरता नही। जहर की मानसिकता निर्मित हो जाए तो तत्काल मृत्यु हो जाती है। इस तथ्य की पुष्टि एक कहानी से होती है—कुछ राहगीर एक छोटे भोजनालय मे भोजन करने ठहरे। उन्होंने भोजन किया। तब तक साझ घिर आई। वे रात्रिविश्राम के लिए

वही ठहर गए। वह भोजनालय एक बुढिया चलाती थी। वह राहगीरो को पैसे लेकर भोजन खिलाती। उसकी मनुहार मे इतनी मिठास होती कि एक वार वहा भोजन करने वाले राही लौटते समय वही आते।

राहगीर भोजन कर विश्राम कर रहे थे। उनमे से एक वोला—'मा ! सुवह हमे यहां से जल्दी जाना है, इसलिए भोजन नही करेंगे।' बुढिया ने कहा—'मै तुमको भूखे पेट विदा नही करूगी। भोजन नही करना हो तो ठण्डी-मीठी छाछ पीते जाना।' बुढिया उस दिन जल्दी उठी। उसने छाछ वनाई और एक-एक प्याला भरकर उनको पिला दिया। मा-सी ममतामयी बुढिया के हाथ से छाछ पीकर वे मुह-अधेरे वहा से विदा हो गए।

दिन चढने के वाद बुढिया छाछ की हडिया के पास आई। उसने देखा कि छाछ का रग कुछ लाल है। वह चौकी। उसने ध्यान दिया। छाछ मे काला नाग मथा हुआ था। इस दृश्य को देखते ही वह दु खी हो गई। उसकी आखो के सामने उन राहगीरो के चेहरे घूमने लगे, जो घण्टा-भर पहले वह छाछ पीकर गए थे। न जाने वेचारे किस प्रांत से आए थे। कितनी उमगें लेकर आए थे। उनके माता-पिता की आकाक्षाओ के एकमात्र केन्द्र वे ही होगे। उन पर क्या वीतेगी ? उनको कहा जाना है, यह भी नही पूछा। अन्यथा किसी को भेजकर उनकी खोज-खवर ले लेती। *अव क्या करू ? यह सारा पाप मेरे सिर पर आएगा*—इस प्रकार सोचती-सोचती वुढ़िया रोने लगी।

जहर की स्मृति से मौत

दिन वीते, महीने वीते, वर्ष वीते। कई वर्षो वाद अर्थोपार्जन के लिए गए वे राहगीर लौटे। उन्होंने एक समय का पडाव वुढ़िया के पास करने का चिन्तन किया। वे आए और वोले—'माजी ! हमे पहचाना या नही ?' बुढिया ने कहा—'मुझे तुम सव अपने लगते हो। पर पहचानू किसे-किसे ? यहा तो प्रतिदिन नये-नये चेहरे आते रहते है।'

राहगीरो ने वर्षो पहले की घटना को कुरेदते हुए कहा—'माजी ! तुमने हमको जाते-जाते छाछ पिलाई थी।' छाछ का नाम सुनते ही बुढिया चौंककर वोली—'क्या कहा ? अच्छा हुआ, तुम सव जीवित आ गए।' वुढ़िया की वात ने उनको आश्चर्य मे डाल दिया। उन्होंने पूछा—'क्या हुआ, मा ? हम तो कुछ समझे नही।' बुढिया वोली—'जाने दो।' राहगीरो की उत्सुकता वढी। उन्होंने आग्रह किया। वुढ़िया ने जहर मिश्रित छाछ पिलाने की घटना सुना दी।

जहर पीने की वात सुनते ही उनके मुख से निकला—'हे भगवान ! यह वात हुई।' वस, उसी समय जहर ने प्रभाव दिखाना शुरू किया। देखते-देखते वे सव वही ढेर हो गए। वुढ़िया की परेशानी और अधिक वढ़ गई।

आदमी बधा है या गाय

दुनिया विचित्र है। जो लोग जहर पीने से नही मरे, वे उसकी स्मृतिमात्र से मर गए। यही बात भोगवादी चेतना की है। भोग से व्यक्ति का पतन नही होता है, पर भोग के प्रति होने वाली आसक्ति उसकी विवेक-चेतना को समाप्त कर देती है। इस दृष्टि से कहा जाता है, मनुष्य आसक्ति से बचे। मनुष्य स्वय भी चाहता है कि आसक्ति उस पर हावी न हो। पर वह करे भी क्या ? उसका मन इतना दुर्बल है कि वह समझाने पर भी नही समझता। मन के पीछे व्यक्ति स्वय कमजोर हो जाता है।

एक आदमी गाय को बाधकर ले जा रहा था। उधर से एक सन्यासी अपने शिष्यो के साथ आ रहा था। उसने शिष्यो से पूछा—'इस गाय को आदमी ने बाधा है या आदमी ने गाय को बाधा है ?' शिष्य बोले—'गुरुदेव ! यह तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि आदमी गाय को बाधकर ले जा रहा है।' गुरु ने दूसरी बार पूछा—'यह गाय रस्सी तुडाकर भागे तो इसके पीछे आदमी भागेगा अथवा आदमी रस्सी छोडकर भागे तो उसके पीछे गाय भागेगी ?' शिष्य बोले—'गुरुदेव ! गाय आदमी के पीछे नही भागेगी। गाय के पीछे आदमी भागेगा।'

गुरु ने शिष्यो को प्रतिबोध देते हुए कहा—स्थूल रूप से ऐसा लगता है मानो गाय बधी हुई है। उसे आदमी ले जा रहा है। पर सूक्ष्म दृष्टि बिल्कुल भिन्न सूचना देती है। उसके अनुसार गाय कही भी बधी हुई नही है। मनुष्य अपनी आसक्ति की डोर से गाय के साथ बधा हुआ है। यही कारण है, जहा गाय जाएगी, मनुष्य को जाना होगा।

मन की उछलकूद

यही हालात मानवीय चेतना का है। वह भोग के साथ इतनी बध गई है कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व दृष्टिगोचर ही नही होता। शक्तिसम्पन्न होने पर भी मनुष्य को मन के पीछे भटकना पडता है। मन की इस उछलकूद से दु खी होकर मनुष्य गाता है—

> मनवा ! किण विध तुझ समझाऊ,
> क्यू कर तुझ पर काबू पाऊ,
> छिन-छिन ध्यान लगाऊ ॥
>
> घर को दुश्मन है घर फाडू,
> क्यू कर अपनी जाघ उघाडू।
> आ उलझन सुलझाऊ,
> कुण-सो पथ अपणाऊ ॥

चुपके अन्दर ले चिमठायो,
नरम-गरम वण वहु समझायो।
पर कोई असर न पाऊं।।
एगे जिये जिया पंच प्रमाणं,
सच्चं जो सहस्सं सहस्साणं,
अव सन्देह न ल्याऊं।।

मन को प्रशिक्षित या नियन्त्रित करके ही मनुष्य भोगासक्ति के अभिशाप से मुक्त हो सकता है। जव तक मन मुट्ठी मे नही आएगा, आसक्ति और अनासक्ति की चर्चा कोई विशेप परिणाम नही लाएगी। मन वश मे हो जाए तो मनुष्य किसी प्रकार की अतिरिक्तता को स्वीकार नही करता।

मैं अतिरिक्तता नही चाहता

गाधीजी के आश्रम मे सयुक्त रसोईघर था। वहा लगभग दो सौ स्त्री-पुरुप भोजन करते थे। एक पारी मे इतने लोग एक साथ वैठकर खा सकें, ऐसी व्यवस्था नही थी। भोजन करने वालो और परोसने वालो के लिए निश्चित समय पर घण्टी वजती। ठीक समय पर पहुचते, वे सम्मिलित हो जाते। विलम्व होने पर वाहर वैठ प्रतीक्षा करनी होती। गाधीजी प्रतिदिन समय पर पहुच जाते। एक दिन उन्हे किसी काम से विलम्व हो गया। घण्टी वजाने वाले ने उनकी प्रतीक्षा की। उनको आते देख उसने घण्टी वजाई।

गांधीजी को पता लगा कि उनके कारण घण्टी देरी से वजी। उन्होंने तत्काल घण्टी वजाने वाले को वुलाया और घण्टी देरी से वजाने का कारण पूछा। उसने कहा—'आप नही आए थे, इसलिए मैंने घण्टी देरी से वजाई।' गाधीजी यह सुन वोले—'मेरे लिए कितने लोगो का समय विगाडा। मैं इस अतिरिक्तता को पसद नही करता। यदि मैं विलम्व से आऊ तो मुझे वाहर वैठ प्रतीक्षा करनी चाहिए। मैं नही चाहता कि मेरे कारण कोई भी व्यवस्था इधर-उधर हो।' आश्रमवासी गांधी के प्रति नत हो गए। आश्रम के सर्वोच्च व्यक्ति व्यवस्था के प्रति जागरूक रहकर ही आश्रमवासियो को सक्रिय शिक्षण दे सकते हैं। गांधीजी का जीवन इस दृप्टि से उदाहरण है।

संसार उनका दास वन जाता है

कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता और सम्मान के प्रति निस्पृहता का भाव उन व्यक्तियो मे जागता है, जो भोगातीत चेतना के विकास की दिशा मे प्रस्थित हो जाते हैं। भोगवादी चेतना मनुष्य की इच्छाओ को निरकुश वना देती है। उसके कारण आशाओ का जाल उलझता जाता है। अध्यात्म की दृप्टि यह है कि आशा और

आकाक्षा की दासता स्वीकार करने वाले लोगो को सदा दूसरो के अधीन रहना पडता है। कहा भी जाता है—

आशाया ये दासास्ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा दासी येषा तेषा दासायते लोक ॥

जो लोग आशा के दास है, वे समूचे लोक के दास वन जाते हैं। जो लोग आशा को अपनी दासी वना लेते हैं, सारा ससार उनका दास हो जाता है।

भारतवर्ष की सस्कृति त्याग और अध्यात्म को मूल्य देने वाली सस्कृति है। इस सस्कृति मे आस्था रखने वाले लोग त्याग की महिमा से परिचित है। वे जानते है कि मनुष्य के पास भौतिक साधन-सामग्री हो या नही, वे उसकी आशा से वचे रहते है। प्राप्त की मूर्च्छा और अप्राप्त की आकाक्षा—इन दो तटो के वीच आशा नदी प्रवाहित होती है। इन तटवन्धो को तोडकर आशा के प्रवाह को दिशान्तरित करने से, पदार्थ की अभिमुखता छोडकर अध्यात्मोन्मुख वनने से भोगातीत चेतना का विकास हो सकता है। भौतिक युग मे भोगातीत चेतना के विकास का रास्ता कठिन हो सकता है। पर वह रास्ता उपलव्ध कर लिया जाए तो मजिल तक पहुचने मे समय नही लगता।

२१. अपरिग्रह! परमो धर्मः।

अहिंसा और अपरिग्रह जैन जीवन-शैली के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। 'अहिंसा परमो धर्म' इस घोप को वार-वार दोहराया जाता है। पर इसके साथ अपरिग्रह परमो धर्म की वात नही जुडेगी, तव तक अधूरापन रहेगा। भगवान् महावीर ने इन दोनों का निरूपण किया। पर पता नही, कव और क्यो अपरिग्रह की वात श्लथ हो गई, गौण हो गई। यही कारण है कि जैन लोगो के मन मे हिंसा के प्रति जितनी ग्लानि है, परिग्रह के प्रति नही है। अनजान मे चीटी भी मर जाती है तो उसकी आलोचना करने की परम्परा है। कोई चिडिया, चूहा या कवूतर मर जाए तो उसका प्रायश्चित्त स्वीकार किए विना चैन नही मिलता। किन्तु परिग्रह कितना ही वढ जाए, ममकार का विस्तार होता जाए, उसके लिए प्रायश्चित्त नही लिया जाता। यह धारणा भी नही है कि 'परिग्रह' से पाप होता है। तव उसकी विशोधि कैसे होगी? इस स्थिति मे अपरिग्रह की चेतना का विकास कैसे होगा?

दो स्थानो को छोड़े विना वोधि नही मिलती

स्थानाग मूत्र मे वताया गया है कि दो स्थानो को जाने विना और छोड़े विना आत्मा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को नहीं सुन पाता, विशुद्ध वोधि का अनुभव नही कर पाता, मुड होकर, घर को छोडकर सपूर्ण अनागरिता को नही पाता, सपूर्ण ब्रह्मचर्यवास को प्राप्त नही करता, सपूर्ण संवर के द्वारा सवृत नही होता और विशुद्ध आभिनिवोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान को प्राप्त नही करता। वे दो स्थान हैं—आरंभ और परिग्रह। जैनधर्म मे आस्थाशील लोग भी जव भगवान महावीर के सिद्धान्तो को आधा पकडेंगे, तो दूसरे लोग उन पर पूरा ध्यान कैसे देंगे?

अणुव्रत मिशन को लेकर हम लोग दिल्ली पहुचे। वहा राजघाट पर विनोवाजी के साथ हमारी मुलाकात हुई। उस प्रथम मुलाकात मे हमने लगभग

एक घटा वात की। वार्तालाप के प्रसग मे विनोवाजी ने कहा—'जैन लोगो ने अहिंसा पर जितना ध्यान दिया, उतना सत्य और अपरिग्रह पर नही दिया।' मैंने उनको समझाने का प्रयास किया। पाच महाव्रतो मे सत्य और अपरिग्रह को उतना ही स्थान मिलने की वात वताई। किन्तु उनको सतोप नही हुआ। वे वोले—'साधु के लिए महाव्रतो मे अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि सवका समावेश है। पर गृहस्थ अनुयायियो के जीवन मे ये नही उतरे है।'

साधु और गृहस्थ की आचार-सहिता एक जैसी नही हो सकती, यह वात सच है। किन्तु भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धार्मिक मूल्यो का एक सीमा तक भी पालन न हो तो वे गृहस्थ धार्मिक कैसे हो सकते हैं? अनुयायी होने और धार्मिक होने मे वहुत वडा अन्तर है। अनुयायी कोई भी हो सकता है। धार्मिक होने के लिए सिद्धान्तो को आचरण मे उतारना आवश्यक है। सव श्रावक एक समान नही होते। फिर भी यह निश्चित है कि अहिंसा की तरह सत्य और अपरिग्रह की वात पर भी पूरा ध्यान दिया जाता तो धार्मिको की स्थिति आज से वहुत भिन्न होती।

छुरी का काम करती है कलम

वह धार्मिक कैसा धार्मिक है, जो सामायिक करता है, पौपधोपवास करता है, पानी छानकर पीता है, पर व्यवसाय मे ग्राहको के गले पर छूरी चलाने मे सकोच नही करता।

सेठ अपनी दुकान मे वैठा काम कर रहा था। वहा एक किसान आया। सेठ उसके साथ लेन-देन सम्वन्धी वात करने लगा। सेठ के कान मे कलम टगी थी। अचानक वह नीचे गिर गई। किसान वोला—'सेठ साहव! आपकी छूरी गिर गई।' यह वात सुन उत्तेजित होकर सेठ ने कहा—'तुम ग्रामीण लोग कुछ भी नही जानते। मैं धार्मिक हू। छूरी को रखना तो दूर, मैं हाथ भी नही लगाता। कहा है छूरी?' ग्रामीण ने कलम की ओर सकेत किया। सेठ ने कहा—'यह तो कलम है। तुम इसे छूरी कैसे कहते हो?' ग्रामीण भोलेपन के साथ वोला—'आप इसे कलम कहते हैं क्या? मैं तो इसी को छूरी मानता हू। आप हमारे गले पर तो इसे ही चलाते है।'

व्यवसाय के क्षेत्र मे जैन श्रावक अपनी विशेप पहचान वनाए और प्रामाणिकता की दृष्टि से साख जमाए, यह नितान्त अपेक्षित है। श्रावको के आचार मे रही शिथिलता की जिम्मेदारी हम साधुओ पर भी आती है। सभव है, हम उन्हे अच्छे ढग से समझा नही सके। हिंसा और परिग्रह की हेयता समान रूप से उनके गले नहीं उतार सके। अव भी इस सवध मे कोई सुनियोजित प्रयत्न हो ताकि जैन श्रावक शोपण और अतिसग्रह की वृत्ति से छुटकारा पा सके।

परिग्रह के साथ हिंसा की नियामकता

जैन श्रावक अहिंसा को समझते हैं और हिंसा के नाम से कापते है, इसका अर्थ यह नही है कि वे पूर्णत अहिंसक होते है। वे जीविका के लिए हिंसा करते हैं। इसी प्रकार सुरक्षा के लिए उन्हे हथियार भी उठाना पड़ता है। इस सन्दर्भ मे अनेक लोग भ्रान्त हैं। ईस्वी सन् १९६५ मे हम दिल्ली मे चातुर्मास विता रहे थे। उस समय पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया। दोनो देशो के वीच भयानक युद्ध छिड गया। उन दिनो दिल्ली युनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर हमारे पास आए और वोले—'हिन्दुस्तान-पाकिस्तान मे जग हो रहा है। राष्ट्र पर वहुत वड़ा सकट आ गया है। इस समय जैन लोग क्या करेंगे ? वे शस्त्र नही उठा सकते, हिंसा नही कर सकते।'

मैंने प्रोफेसर से पूछा—'जैन लोग शस्त्र क्यो नही उठा सकते ?' वे वोले—'क्या आप उन्हे शस्त्र उठाने की आज्ञा देंगे ?' मैंने कहा—'मैं आज्ञा दू या नही, वे हथियार क्यो नहीं उठाएगे ? क्या उनके वाल-वच्चे नही हैं ? क्या उनका कोई देश नही है ? देश मे रहने वाला हर व्यक्ति सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वो से वधा हुआ है। वह दायित्व से उदासीन कैसे हो सकता है ? आप तो प्रोफेसर हैं, पढ़े-लिखे है। क्या आप इतिहास नही जानते ? हमारे देश के अनेक सेनापति जैन हुए है। उन्होंने वड़े-वड़े युद्ध लडे है।'

मैंने अपनी वात को दार्शनिक परिवेश मे प्रस्तुति देते हुए कहा—'एक वस्त्र के दो छोर है। एक छोर है हिंसा और दूसरा छोर है परिग्रह। व्यक्ति एक छोर को पकडकर रखना चाहे और दूसरे छोर को छोडना चाहे, यह कभी संभव नही है। वह परिग्रह वढाता रहे और हिंसा से उपरत रहे, यह हो नही सकता। परिग्रह के साथ हिंसा की नियामकता है। पर ससार की विचित्रता है कि वह इस सत्य को सुन नही सकता, पचा नही सकता।

सत्य को सहना कठिन होता है

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव एक कहानी कहा करते थे। उसका निष्कर्ष है—'साच वोल्यां मां मारैं।' पूरी कहानी इस प्रकार है—एक महिला, जिसका पति मृत्यु को प्राप्त हो चुका था, अपने इकलौते पुत्र के साथ रहती थी। वह अपने पुत्र को पास विठा उसका सिर सहलाती हुई उसे सीख देती—'वेटा ! सदा सच वोलना, कभी झूठ मत वोलना। जो सच वोलता है, उसका विश्वास होता है, उसी की इज्जत होती है। तेरे पापा सदा सत्य वोलते थे। इसी कारण उनको सव मानते थे। तू भी अपने पिता के पदचिह्नो पर चलना।'

लडका समझदार था। उसने वहुत वार अपनी मा की यह शिक्षा सुनी।

एक दिन वह बोला—'मा ! तुम्हारा कहना ठीक है। पर सच बोलना बहुत कठिन है। मा भी सचाई को सहन नही कर पाती, औरो की तो बात ही क्या ? मैं अभी सच बोलू तो तुम ही मुझे डाटोगी।'

महिला ने अपने पुत्र को दुलारते हुए कहा—'बेटा ! यह कैसे हो सकता है, मुझे तो झूठ से नफरत है। इसीलिए मैं तुझे बार-बार सच बोलने के लिए कहती हू।' लडका कुछ सोचकर बोला—'मा ! मैं सच-सच कह दू।' महिला ने कहा—'बेटा ! तू डरता क्यो है ? बोल, क्या कहना चाहता है ?'

लडका साहस कर बोला—'मा ! एक बात बता, पिताजी तो चल बसे, अब तुम यह शृगार किसके लिए करती हो ? हमारे पडोस मे रहने वाली चाचीजी तो चाचाजी की मौत के बाद कभी अच्छे कपडे भी नही पहनती है।' पुत्र की बात सुनते ही महिला ने अपना तेवर बदल लिया। वह हाथ मे झाडू लेकर आई। पुत्र को डाटते हुए उसने कहा—'शर्म नही आती, तुझे अटसट बोलते। निकल जा मेरे घर से।' मा, गुस्से मे झाडू मे मार न दे, यह सोच लडका उठकर भागा। वह जाते-जाते कह गया—'मा ! मैंने पहले ही कह दिया था—'साच बोल्या मा मारै।'

अपरिग्रह को मूल्य देना होगा

एक समय था, जब हिन्दुस्तान मे विधवा महिलाओ की स्थिति बहुत दयनीय थी। पति की मृत्यु के बाद उनके खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि मे आमूलचूल परिवर्तन आ जाता था। सामाजिक प्रताडनाओ के बीच उनका जीवन उन्ही के लिए अभिशाप बन जाता था। शरीर की साजसज्जा उनके चरित्र को लाछित करने वाली मानी जाती थी। सत कबीर ने अपने युग मे विधवा स्त्री के शृगार को लेकर जनमी हुई जनभावना को शब्द देते हुए कहा—

> रगड-रगड कर एड्या धोवै, जुल्फ्या घणी सवारै,
> अगिया तो अधकट्टी पहरै, नयणा काजल सारै।
> एहवी नार कदे नही आछी, एहवो राखै चालो,
> कहत कबीर सुणो भाई साधो, ओ ही दाल मे कालो ॥

वर्तमान मे परिस्थितिया काफी बदल गई है। फिर भी रूढिवादी लोगो की दृष्टि मे आज भी स्त्री का स्थान बहुत ऊचा नही है। उनका वश चले तो युग के प्रवाह को बदलकर विधवा महिलाओ को मानसिक और शारीरिक रूप मे प्रताडित करते रहे। किन्तु उन्ही के समकालीन सुधारवादी लोगो ने वातावरण को नया मोड देकर एक भयावह त्रासदी का अन्त करने की चेष्टा की है। स्त्री-शिक्षा और स्त्रियो के कार्यक्षेत्र मे बदलाव होने से भी स्थिति मे कुछ अन्तर आया

है। इसका लाभ वड़े गहरो और कस्वों मे रहने वाली महिलाए तो उठा रही हैं। देहातो की स्थिति अव भी विचारणीय है।

समाज में रीति-रिवाजो की तरह धार्मिक सिद्धान्तो मे भी रूढता आ जाती है। अपरिग्रह के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। इसीलिए अहिंसा का घोष पग-पग पर मुखर हुआ और अपरिग्रह उपेक्षित होता रहा। अहिंसा की भाति अपरिग्रह को भी धर्म का विशेप अग माने विना समस्या का समाधान नही होगा। इसलिए एक वार पूरी शक्ति के साथ 'अपरिग्रह परमो धर्म' इस घोपणा को मुखर करने की अपेक्षा हैं।

२२. लोभ का सागर । सन्तोष का सेतु

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे जीता है। पारिवारिक दायित्व उसके लिए कर्त्तव्य की प्रेरणा वनते है। उसकी अपनी आकाक्षाए भी होती है। कर्त्तव्य और आकाक्षाए उसे कर्म के क्षेत्र मे प्रवृत्त करती हैं। प्रवृत्ति के साथ फल प्राप्ति की भावना जुडी रहती है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—कम समझ वाला व्यक्ति भी प्रयोजन के विना प्रवृत्ति नही करता।

एक समय था, मनुष्य प्रकृति पर निर्भर रहता था। उसके जीवन की आवश्यकताए सीमित थी। उनकी पूर्ति प्रकृति-प्रदत्त साधनो से होती थी। साधन कम हुए। आवश्यकताए वढी। मनुष्य के मन मे लोभ जागा। लोभ ने सग्रहवृत्ति को जन्म दिया। इस सग्रहवृत्ति ने मम्मण जैसे व्यक्तियो को जन्म दिया, जो अपार वैभव के स्वामी होकर भी पेट भर भोजन नही करते थे। जहा लोभ होता है, वहा सुख नही होता। इस सचाई को ध्यान मे रखकर सन्त पुरुषो ने लोभ को जीतने का उपदेश दिया। **लोभ अलोभेण दुगुछमाणा**—अलोभ के द्वारा ही लोभ जीता जा सकता है। अलोभ का दूसरा नाम है सतोप। इसके द्वारा व्यक्ति किसी भी स्थिति मे आनन्द का अनुभव कर सकता है। पर कठिन है अलोभ की वृत्ति का विकास।

निर्लोभता गृहस्थ के लिए भी है

लोभी व्यक्ति को अपने चारो ओर खतरो की पदचाप सुनाई देती है। सग्रह करने वाला व्यक्ति अनेक वार फस जाता है। फिर भी वह अपनी वृत्ति को नही वदलता। सरकार की ओर से स्थान-स्थान पर छापे डाले जा रहे हैं। लोगो की धर-पकड हो रही है। क्यो ? इसमे अन्य छोटे-वडे कारणो के साथ एक वडा कारण लोभ है ? कामनाओ का जाल जितना-जितना अधिक विस्तृत होता है, व्यक्ति उसमे उतना ही अधिक उलझता है।

कुछ लोगो का अभिमत है कि व्यक्ति की इच्छा नही होगी, कामना नही होगी

तो धन भी नही वढेगा। अधिक लोभ से अधिक धन प्राप्ति की वात समझ मे नही आती। ऐसे कुछ प्रसंग अवश्य घटित हुए हैं कि जो व्यक्ति अर्थ के मामले मे अनासक्त रहते है, उनके अर्थ की कमी नही होती। यह सही है कि कोई भी गृहस्थ सर्वथा निर्लोभ रहकर अपनी गृहस्थी की गाडी नही चला सकता। पर यह भी सच है कि लोभ को सीमित करने से गृहस्थी जितनी अच्छी चलती है, लोभ को वढ़ाने से नही चल सकती। इसलिए गृहस्थो के लिए भी निर्लोभता या अनासक्ति का अभ्यास वहुत आवश्यक है।

कामुक देखता हुआ भी नही देखता

लोभ और काम—ये दोनो आन्तरिक विकास मे वाधक है। ये व्यक्ति के अन्तश्चक्षुओ को वन्द कर देते हैं। विवेकचक्षु को खुला रखने के लिए लोभ और काम की भवना को नियंत्रित करना जरूरी है। लोभी और कामी व्यक्ति देखता हुआ भी नही देखता और सुनता हुआ भी नही सुनता। इसी दृष्टि से कहा जाता है—

पश्यन्नपि न पश्यति, शृण्वन्नपि न शृणोति।

रावण ने सीता का अपहरण किया। वात फैली। रावण का अपवाद हुआ। उसके भाई विभीषण ने उसको समझाया। मत्रीपरिषद के वरिष्ठ सदस्यो ने सीता को लौटाने का परामर्श दिया। पर वह नही माना। स्थिति विषम होती गई। उस पर विचार करने के लिए मत्रीमण्डल की गोष्ठी वुलाई गई। गोष्ठी मे एक वार फिर रावण को समझाने का प्रसग चला तो एक सदस्य वोला—विभीषण की वात का भी उन पर कोई असर नही होता है। वे हमारी क्या सुनेंगे—

सुणै तो ही सरधै नही रे, विभीषण री वाच।
देखी तो देखै नही रे, कामी ए तो साच॥

कामुक कभी सत्य नही वोलता

सीता के विरह मे राम अधीर हो गए। हनुमान उसकी खोज करने गया। वह लंका मे पहुचा। अशोक-वाटिका मे सीता मे मिला। उसके वाद वहा उखाड-पटक की। रावण को सूचना मिली। उसने हनुमान को नागपाश मे वाध लिया। नागपाश मे वधे हुए हनुमान को राजदरवार मे उपस्थित किया गया। रावण वोला—'तुम पीढियो से मेरे सेवक हो। मैं तुम्हारा मालिक हू। राम के साथ तुम्हारा क्या सवध है? उसके पास तुमको क्या मिलेगा?' यह वात सुन हनुमान क्रोध मे तमतमा उठा। उसकी भौहे तन गई। रावण पर मिथ्या संभाषण का आरोप लगाते हुए उसने कहा—

मै तो कद को सेवक थांरो, थे कद का मुझ स्वामी।
लाज न पामो झूठ वोलता, साच न भाखै कामी ॥

मैं कव से तुम्हारा सेवक हूं और तुम कव से मेरे स्वामी हो ? झूठ वोलते हुए तुमको शर्म नही आती है ! पर इसमे तुम्हारा कोई दोष नही है। कामुक व्यक्ति कभी सत्य वोल ही नही सकता।

सत्य-सभाषी वनने के लिए ज्ञाता-द्रष्टा भाव को जागृत करना आवश्यक है। ज्ञाता-द्रष्टा वही वन सकता है, जो अतिलोभ और अति कामुकता से वचकर रहता है।

मैं सम्राट हू

लोभ और काम मे मुक्त होने वाला व्यक्ति ही महान वन सकता है। उसके पास धन-वैभव और ठाट-वाट हो या नही, वह आन्तरिक सपदा से सपन्न होता है। सन्त कन्फ्यूसियस का एक अजनवी जिज्ञासु व्यक्ति के साथ सवाद हुआ। वडा रोचक है वह सवाद। उसका कुछ अश यहा उद्धृत किया जा रहा है—

जिज्ञासु तुम कौन हो ?

सन्त मै सम्राट हू।

जिज्ञासु सम्राट के पास सेवक होते है। तुम्हारे सेवक कहा है ?

सन्त मैं आलसी नही हू, जो सेवको के भरोसे रहू।

जिज्ञासु सम्राट के पास शस्त्र होते हैं। तुम्हारे शस्त्र कहा है ?

सन्त शस्त्र कायर के पास होते है। मैं कायर नही हू, जो अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्र-सग्रह करू।

जिज्ञासु सम्राट के पास सेना होती है। तुम्हारी सेना कहा है ?

सन्त सेना वह रखता है, जो भयभीत होता है। मैं अभय हू। मुझे सेना की अपेक्षा नही है।

जिज्ञासु सम्राट के पास खजाना होता है। तुम्हारा खजाना कहा है ?

सन्त मैं दरिद्र नही हू। मेरी अन्त सपदा वर्धमान है। मुझे भौतिक खजाने की आवश्यकता नही है।

जिज्ञासु सम्राट के अगरक्षक होते है। तुम्हारे अगरक्षक कहा है ?

सन्त अगरक्षक की अपेक्षा उसे होती है, जो आक्रान्ता होता है। मैं आक्रान्ता नही हू।

जो व्यक्ति लोभ पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही इतना अभय हो सकता है। हम सव इस विन्दु पर विचार करें कि हमारे भीतर कही लोभ तो नहीं है ? कही ख्याति की कामना तो नही है ? जो व्यक्ति सव प्रकार की आकाक्षाओ मे ऊपर उठ जाता है, वही ज्ञाता-द्रष्टा वन सकता है। 'एस अकम्मा जाणति

पासति'—अकर्मा वही होता है, जो लोभ, काम, क्रोध आदि निषेधात्मक भावो का विलय कर लेता है ।

प्रतीकात्मक झंडा

आन्तरिक भावो मे बदलाव हो, उसका प्रतिबिम्ब व्यवहार मे भी आना चाहिए। व्यक्ति के आकार-प्रकार और वेशभूषा मे उसका जीवन झांकता है। साधुता आन्तरिक तत्त्व है। पर वेशभूषा, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि देखते ही बोध हो जाता है कि यह साधु है ।

उड़ीसा का प्रसंग है। वहां गांधीजी ने पद यात्रा शुरू की। एक दिन वे अगले पड़ाव के लिए तैयारी कर रहे थे। सामान बांधा जा चुका था। उस समय एक कांग्रेसी कार्यकर्ता तिरंगा झंडा लेकर आया। गांधीजी ने उसको झंडा लेकर चलने से मना करते हुए कहा—'यह हरिजन-यात्रा है। इसमे कांग्रेस का झंडा नही चलेगा। कोई दूसरा ही झंडा साथ रहेगा।'

उस यात्रा मे श्री मलकानी, श्री वियोगीहरि आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी सम्मिलित थे। नये झंडे की बात पर वे कुछ कहे, उससे पहले ही गांधीजी बोले—'तुम दोनो एक-एक झाड़ू हाथ मे लेकर चलो।' मलकानी और वियोगी हरि के हाथो मे झाड़ू देख अन्य सहयात्रियों ने भी उनका अनुकरण किया। उस यात्रा का वह सार्थक प्रतीक बन गया। गांधीजी ने उस प्रतीक की व्याख्या करते हुए कहा—'झाड़ू स्वच्छता का प्रतीक है। हमारा आन्दोलन बाहरी और भीतरी कूड़े को साफ करने के लिए है। हम इससे स्वच्छता की प्रेरणा लें और अपने अभियान को आगे बढ़ाएं।' गांधीजी विलक्षण व्यक्ति थे। वे बात-बात मे महत्त्वपूर्ण शिक्षा दे देते थे। जो व्यक्ति अपने उद्देश्य के अनुरूप वेशभूषा और प्रतीक रखता है, वह अधिक जागरूक होकर काम कर सकता है।

२३. सुख और दुःख : स्वरूप और कारण-मीमांसा

सबको सुख प्रिय है। सब लोग सुख चाहते हैं। दु ख किसी को प्रिय नही है। दु ख कोई नही चाहता। पर चाहने मात्र से सुख मिलता नही। न चाहने मात्र से दु ख मिटता नही। ऐसी स्थिति मे मनुष्य क्या करे ? वह सुख या दु ख किसी की चाह न करे। 'चाह गई, चिन्ता मिटी, मनुवा वेपरवाह'—जब तक चाह है, तब तक चिन्ता रहती है। चाह छूट जाए तो चिन्ता का रास्ता बन्द हो जाता है। चाह छूटने के बाद मनुष्य किसकी परवाह करे। वह तो शहशाह बन जाता है। पर बहुत मुश्किल है चाह का छूटना।

कुछ लोग पूछते हैं--क्या चाह को छोडा जा सकता है ? नही छोडा जा सकता तो न छोडें। पर सुख-दु ख की चर्चा न करें। सुखद या दु खद, जो भी स्थिति सामने आए, उसे स्वीकार करें, भोगें। कभी हर्ष और कभी विषाद न करें। सहज रहे। कोई भी स्थिति आपको प्रभावित नहीं कर पाएगी।

स्ववशता सुख है

सुख क्या है ? और दु ख क्या है ? किसी एक ही शब्द या वाक्य द्वारा सुख-दु ख को अभिव्यक्ति देना सभव नहीं है। अनेक परिभाषाए और अवधारणाए प्रचलित हैं। 'सर्व परवश दु ख, सर्व आत्मवश सुखम्'—परवशता दु ख है। स्ववशता सुख है। मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी स्वाधीन रहना चाहते हैं। गाय आदि पशुओं को मनुष्य ने पालतू बना लिया। वह उन्हें पराधीन रखता है। उन्होंने पराधीनता को स्वीकृति दे दी। क्यो ? थोडी-सी सुविधा है, पराधीन रहने मे। पर कितना कुछ सहना पडता है उनको ?

पक्षी को सोने के पिंजरे मे रखा जाए और प्रतिदिन खाने के लिए मेवा-मिष्टान्न दिया जाए तो भी उसकी आत्मा वहा सतुष्ट नही रहेगी। क्योकि पिंजरे मे सब कुछ है, पर स्ववशता नही है। मौका मिलते ही वह अनन्त की यात्रा पर

उड जाता है। उस उडान मे जो सुख है, वह पिंजरे के सीखचो मे अनेक सुविधाओ का भोग करने पर भी नही मिलता।

आत्म-रमण सुख है

अध्यात्म के लोगो ने सुख-दु ख को परिभापित करते हुए गाया है—**'आत्मरमण सुख, परासक्ति दु खम्'**—अपने आप मे रहना सुख है और पदार्थ मे आसक्त होना दु ख है। आत्म-रमण जीवन की सवमे वडी कला है। इस कला मे जो निष्णात हो जाता है, उसे कोई दु खी नही वना सकता। घर-परिवार छोडकर साधु वनने वाला व्यक्ति भी जव तक अपने आप मे रमण नही करता, सयम मे रमण नही करता, तव तक सुखी नही होता। प्रसिद्ध सूक्त है—

अमरोवम जाणिय सोक्खमुत्तम,
रयाण परियाए तहारयाणं।
निरओवमं जाणिय दु.खमुत्तमं,
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए॥

साधुत्व मे रत व्यक्ति उत्तम स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है। साधुत्व मे रमण नही करने वाला उत्तम नारकीय दु ख का अनुभव करता है। इसलिए साधक साधुत्व मे रमण करे।

आत्म-रमण का नाम ही साधुत्व मे रमण है। वह व्यक्ति कभी आत्मा में रमण नही कर सकता, जो पदार्थ मे आसक्त रहता है। इसी कारण पदार्थासक्ति को दु ख-माना गया है। सुख-दु ख की और अनेक परिभाषाएं हो सकती हैं। उन्हे समझकर सुख की दिशा मे सलक्ष्य प्रस्थान किया जाय तो एक दिन नितान्त आत्मसुख की उपलब्धि सभव है।

कैसे खुलता है सुख का स्रोत?

हजारो-लाखो लोग साधु-सतो के पास जाते है। क्यो ? उनके मन मे आकाक्षा है। वे कुछ पाना चाहते है। क्या ? धन, परिवार, मकान, कार, प्रतिष्ठा। इस आकाक्षा के साथ आने वाले यह नही सोचते कि जो लोग अपना धन-वैभव, परिवार आदि छोडकर साधु वने हैं, उनके पास इनकी आशा लेकर क्यो जाए ? यदि इन सव वस्तुओ मे सुख की सभावना होती तो साधु इन्हे क्यो छोडते ?

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो धन-वैभव, पुत्र आदि की आकाक्षा लेकर नही आते। वे जानते हैं कि जो स्वय मागकर खाते है, वे ये चीजें कैसे दे सकेंगे ? उनके आगमन का एक ही लक्ष्य है—सुख और शान्ति की उपलब्धि। साधु-सन्त कितने प्रसन्न हैं, कितने आनन्दित हैं, कितने निश्चिन्त है, यह स्थिति कैसे वने ?

साधु-सन्तो के पास आकर मनुष्य शान्ति, सुख, प्रसन्नता और आनन्द का

अनुभव कर सकता है। पर उसके लिए कुछ मूल्य चुकाना होगा। विना मूल्य मिट्टी-पत्थर भी नही मिलते है, सुख और आनन्द कैसे मिलेगा ? इसकी कीमत है मूर्च्छा का त्याग। जव तक मनुष्य मूर्च्छा का आवरण नही उतारेगा सुख का दर्शन भी नही होगा। वहुत कठिन है मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोडना। एक वार मे पूरी सफलता न भी मिले, उसके लिए प्रयास तो करना होगा, चक्रव्यूह मे प्रवेश तो करना होगा। एक सीमा तक ही सही, मूर्च्छा टूटे विना सुख की अनुभूति नही हो सकती, प्रसन्नता नही मिल सकती। क्योकि अति-आसक्ति दु ख है।

अन्तर—मूर्च्छा की सघनता और विरलता का

मूर्च्छा दो प्रकार की होती है—शरीर की मूर्च्छा, चेतना की मूर्च्छा। सामान्यत मूर्च्छा को तोडने के लिए कोई निमित्त अपेक्षित होता है। पर कुछ व्यक्ति ऐसे होते है, जिनके मूर्च्छा का आवरण वहुत विरल होता है। मेरा एक छोटा शिष्य था—मुनि कनक। नौ-दस वर्ष की अवस्था मे ही उसका विवेक जागृत था। लाडनू की वात है। एक वार मैंने उसे घडी देखने के लिए कहा। वह नीचे गया। वहा वयोवृद्ध मुनि मगनलालजी (मत्री मुनि) वैठे थे। उन्होने उसको अपने पास वुलाया। वह वोला—'मैं पहले घडी देखकर गुरुदेव को निवेदन करूगा। फिर आपके पास आऊगा।' उसकी इस वात से वे वहुत प्रसन्न हुए।

मुनि कनक अपने पिता कन्हैयालालजी के साथ दीक्षित हुआ था। उनका मन कमजोर हो गया। वे घर लौटना चाहते थे। उन्होंने अपने पुत्र को भी घर चलने के लिए कहा। वह तैयार नही हुआ। वे उसे डाटते-फटकारते, अपशब्द कहते और धमकाते।

मेरे पिता वे नही, आप है

एक दिन मुनि कनक मेरे पास आया। वह कुछ कहना चाहता था, पर कह नही पाया। मैंने पूछा—'कुछ कहना है ?' वह वोला—'आप अकेले होगे, तव कहूगा।' मैंने सोचा—'यह छोटा-सा वालक है। इसे ऐसी क्या वात करनी है, जिसके लिए एकान्त चाहिए।' फिर भी उसका मन रखने के लिए वहा से मत्री मुनि को उठाया। उसके सिर पर हाथ रखकर मैंने कहा—'वोल, क्या कहना है ?' इस वात्सल्य से वह द्रवित हो गया। वडी मुश्किल से स्वय को सभालकर वह वोला—'गुरुदेव ! आप कहते है कि मैं अपने ससार पक्षीय पिता के पास रहू। पर वे मुझे घर ले जाना चाहते है। मेरे पिता अव वे नही, आप है। उनके साथ मेरा क्या सम्वन्ध है ? मैं उनके लिए अपना साधुपन कैसे खो सकता हू ?'

विलकुल नयी सूचना दी मुनि कनक ने। उससे पहले मुनि कन्हैयालालजी ने

अपने पुत्र कनक की शिकायत करते हुए कहा था—'यह मेरा कहना नही मानता, मेरे पास बैठता नही, यह नही करता, वह नही करता आदि।' कोई भी पिता अपने पुत्र की गलत शिकायत कैसे कर सकता है, यह सोच मैंने कनक को उपालम्भ भी दिया। पर वह कुछ बोला नही। उस दिन सही स्थिति की जानकारी पाकर मैंने कहा—'यह बात है तो तुझे उनके पास जाने की कोई जरूरत नही है। तू यही मेरे पास रहा कर। कुछ समय बाद कन्हैयालालजी साधु-जीवन छोड़कर घर चले गए। उस स्थिति मे मुनि कनक अविचल रहा। यह कोई कहानी नही, सच्ची घटना है। मूर्च्छा की विरलता मे ही ऐसी घटना घट सकती है।

महत्त्व है मूर्च्छा को तोड़ने का

मुनि कनक बडा होनहार साधु था। पर वह आयुष्य बहुत कम लेकर आया। छह महीनो के भीतर-भीतर वह पंडित मरण को उपलब्ध हो गया। उसको मियादी ज्वर हो गया। उसका काफी उपचार कराया गया, पर ज्वर नही उतरा। ज्वर के कारण वह कई बार मूर्च्छित हो जाता। उसके उपचारक साधु प्रयत्न करके भी उसकी मूर्च्छा नही तोड पाते। मैं उसके पास जाता और कहता—'कनक!' मेरी आवाज सुनते ही वह आखें खोल देता। इतना तादात्म्य जुड गया था उसका मेरे साथ। मै भी उसके पास घण्टा-घण्टा बैठकर उसको आध्यात्मिक मत्र, गीत आदि सुनाता रहता। वह मेरी उपस्थिति में पूरा सजग रहता और तन्मयता के साथ सुनता। आखिर वह चला गया। आना-जाना कोई बडी बात है भी नही। महत्त्व है मूर्च्छा को तोड़ने या कम करने का। मुनि कनक का विवेक जागृत था। वह अपने करणीय के प्रति सजग था। क्योकि उसकी मूर्च्छा सघन नही थी।

दु.ख बढ़ता है ममकार से

मूर्च्छा से ममत्व बढ़ता है। ममत्व से दु ख होता है। ममत्व है मेरापन का भाव। 'से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइय'—जिसका मेरापन छूट जाता है, वह ज्ञानी होता है। ज्ञान साधन है मार्ग को देखने का। जो मार्ग देख लेता है, उसे मजिल स्वय दिखाई देती है। जो मार्ग देख लेता है, मंजिल को पहचान लेता है, ज्ञान पा लेता है और ममत्व छोड देता है, वह सुखी बन जाता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो जेल को आश्रम बना लेते हैं। जेल को कारागृह मानकर रहने वाला विवशता का अनुभव करता है। बिना किसी अपराध के राजनीतिक कारणो से जेल में रहने वाले अनेक व्यक्ति अपना दृष्टिकोण बदलकर जेल मे रहते हुए भी जेल मे रहने का दु ख नही भोगते। वे साहित्य पढते हैं, साहित्य लिखते है और उस एकान्त का सृजन मे उपयोग करते हैं। ऐसे व्यक्ति दु.ख मे से सुख निकालने के अभ्यासी होते हैं। इनको कोई दु.खी नही कर

सकता।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो आश्रम मे भी जेल जैसा अनुभव करते हैं। वे न कुछ पढते है, न लिखते है, न कोई रचनात्मक योजना बनाते है। आश्रम का शान्त, एकान्त स्थान उन्हे अच्छा नही लगता। उनका मन पूरे ससार की खबरें सुनने के लिए बेचैन रहता है। ऐसे लोगो को कोई सुखी नही बना सकता।

आत्म-दर्शन से मिलता है सुख

सुख-दु ख के कारणो की मीमासा की जाए तो ऐसा लगता है कि सुख और दु ख पदार्थ मे नही, अपने आप मे है। सुख और दु ख किसी वस्तु की प्राप्ति मे नही, सन्तुलन का विकास करने मे है। साधु भिक्षा से भोजन प्राप्त करता है। भोजन मिलने पर वह उसे साधना मे सहयोगी मानता है। भोजन न मिले तो वह सोचता है कि उसे सहज तप का अवसर मिल रहा है। कोई व्यक्ति गाली देता,है तो वह उसे अपनी कसौटी मानता है और सम्मान पाकर वह अपने दायित्व के प्रति जागरूक हो जाता है। इसी प्रकार हीनता और उच्चता के प्रसग उसे हर स्थिति मे सतुलित रहने की सीख देते रहते हैं। इस समग्र कथन का सारसक्षेप यह है कि कोई व्यक्ति किसी को सुखी या दु खी नही बना सकता। सुख-दु ख का उत्स है उसका अपना सतुलन और असतुलन।

असन्तुलन से उबरने का सूत्र है—आत्मदर्शन और आत्मरमण। भगवान महावीर ने कहा है—'**जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी**'—'जो आत्मदर्शी होता है, वह आत्मरमण करता है। जो आत्मरमण करता है, वह आत्मदर्शी होता है। दर्शन के बाद रमण और रमण के बाद दर्शन, यह क्रम चलता रहता है। आत्मा से अन्य तत्त्व है वासना और कषाय। उन्हें न देखना है और न उनमे रमण करना है। आत्मा को देखना सम्यक् दर्शन है और आत्मा को जानना सम्यक् ज्ञान है। आत्म-दर्शन और आत्म-रमण के सूत्र को जो पकड़ लेता है, वह अपने चारो ओर सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्द देखता है।

२४. दोष-मुक्ति का नया उपाय

यह संसार श्रेष्ठताओ और अश्रेष्ठताओ का संगम है। इसमे अच्छाइयां भी हैं और बुराइया भी हैं। सामान्यत अवधारणा यह है कि मनुष्य को गुणान्वेपी होना चाहिए। दोषदर्शन की वृत्ति को गलत माना जाता है। युधिष्ठिर अच्छे और बुरे लोगो की सूची बनाने गया। उसकी सूची मे बुरे व्यक्तियो का एक भी नाम नही था। सन्त-महात्माओ का उपदेश भी आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन का होता है। परम-दर्शन और समत्व-दर्शन का अभ्यास कर मनुष्य अध्यात्म की ऊंचाई तक पहुच जाता है। आयारो, धम्मपद, अथर्ववेद, गीता आदि धर्म और अध्यात्म के ग्रंथ ऐसे तथ्यो से भरे पडे हैं। यह हमारी सस्कृति है, परम्परा है। गुणो को देखना और गुणग्राही बनना अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की पहचान है। ऐसा करके व्यक्ति अपने आप मे अतिरिक्त तोप का अनुभव करता है।

एक को जानने वाला सवको जान लेता है

आज हम एक नयी चर्चा का प्रारम्भ कर रहे हैं। यह चर्चा हमारी स्वोपज्ञ नही है। हमारी अवधारणाओ का आधार जिनवाणी है। जिनवाणी का सशक्त प्रतिनिधि ग्रथ है 'आयारो।' आयारो का एक महत्त्वपूर्ण मूक्त है—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥

जो एक को जानता है, वह सवको जानता है। जो सवको जानता है, वह एक को जानता है। यह एक जटिल पहेली है। एक को जानने के साथ सवको जानने की सगति कैसे बैठ सकती है? सामान्यत हम एक ही नही, अनेक वस्तुओं या व्यक्तियो के सम्वन्ध मे जानकारी रखते हैं। पर सवको जानने की गर्वोक्ति कैसे कर सकते हैं? यदि ऐसा नही होता है तो उक्त आगम वाक्य का तात्पर्यार्थ क्या होगा?

आगम का वाक्य कभी अयथार्थ नही हो सकता, यह हमारी प्रगाढ आस्था

है। इसी आस्था के बल पर हमने अनुप्रेक्षा की तो एक को जानने के साथ सबको जानने की संगति हो गई। उदाहरण के रूप मे हम आत्मा को लें। आत्मा का समग्र अवबोध करने के लिए उसके स्व-पर्यायो और पर-पर्यायो का अच्छी तरह बोध करना होगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के स्व-पर्याय है। क्रोध, मान, माया और लोभ उसके पर-पर्याय हैं। स्व-पर्यायो और पर-पर्यायो के द्वारा जो एक आत्मा को जान लेता है, उसके लिए कुछ भी अजाना नही रह जाता।

खांसी का रोगी और दही

आत्मा को जानने के लिए ज्ञान, दर्शन आदि उसके सहभावी गुणो का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार उसके विजातीय तत्त्व क्रोध, मान, माया और लोभ को जानना भी आवश्यक है। ज्ञान, दर्शन को जानने-देखने की बात समझ मे आ सकती है। पर क्रोध, अभिमान, माया आदि को जानने-देखने की बात नयी है।

प्रतिश्याय का रोगी वैद्य के पास जाता है तो वह उसे परामर्श देता है कि हलुवा जैसे गरिष्ठ पदार्थ मत खाना, घी मत खाना आदि। ऐसा कोई वैद्य शायद ही मिले, जो उसे मुक्तता से कुछ भी खाने की छूट दे। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि परिस्थिति के अनुसार परिहार्य पदार्थ को खाने का निर्देश दिया जाता है।

दही खाने का शौकीन एक व्यक्ति वैद्य के पास गया। उसे खासी की बीमारी थी। वैद्य ने दवा दी और दही से परहेज रखने को कहा। रोगी के लिए यह बहुत मुश्किल था। वह दूसरे वैद्य के पास गया। पहले वैद्य द्वारा दी गई हिदायत के साथ उसने बताया—'मैं और सब कुछ छोड सकता हू, किन्तु दही नही छोड सकता।' वैद्य अनुभवी था और मनोविज्ञान को समझता था। वह बोला—'दही छोडने की बात किसने कही ? मैं कहता हू कि मन भरकर दही खाओ। बीमारी साफ हो जाएगी।

वैद्यजी ने दही के गुणो की समीक्षा करते हुए कहा—'जुकाम-खासी की बीमारी मे दही खाने के तीन लाभ है।' मरीज यह सुन खुशी से उछल पडा। उसने वे लाभ जानने की इच्छा प्रकट की। वैद्य बोला—

१ बुढापा नही सताता।

२ घर मे चोर नही आता।

३ कुत्ता नही काटता।

अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए वैद्य ने कहा—'जुकाम-खासी मे दही खाने वाला समय से पहले मर जाता है, उसे बुढापा नही सताएगा। दही खाने से खासी बढती है। रोगी रात-भर खासता रहता है। उस घर मे चोर कैसे आएगा ? खासी के कारण रोगी का शरीर कृश और कमजोर हो जाता है। चलते समय

उसके पांव लडखडाने लगते है। आलम्बन के लिए वह हाथ मे लाठी रखता है। लाठी देखकर कुत्ता उसके पास कैसे आएगा? इस कारण वह उसके उपद्रव से वच जाता है।' इस समग्र चर्चा का सार निम्न निर्दिष्ट सस्कृत श्लोक मे है—

कासे दध्नो भोजनेन लाभा सन्ति त्रयो ध्रुवम्।
न वार्धक्य न वा चौर्यं न श्वा भक्षयति क्वचित्॥

हरिकेशवल को वोधपाठ मिला

क्रोध, मान, माया और लोभ को देखने का निर्देश खासी मे दधि-भोजन की तरह अवाछनीय परिणाम लाने वाला नही है। इसलिए क्रोध आदि को जानने-देखने की वात सुनने में अटपटी लगने पर भी ग्राह्य है, आचरणीय है। ध्यान देने की वात एक ही है कि मनुष्य क्रोध को देखे, अभिमान को देखे, अन्य वुराइयो को देखे, पर दूसरो के नही, अपने क्रोध, अभिमान आदि को देखे। जिस दिन मनुष्य अपने भीतर झांक लेता है, आत्मा को उत्तेजन देने वाले तत्त्वो को देख लेता है, वह अपनी आन्तरिक वीमारी का उन्मूलन कर देता है।

हरिकेशवल वचपन से ही गुस्सैल प्रकृति का वालक था। वह अपने साथियो के साथ लड़ाई-झगडा करता, उन्हे गालिया वोलता और परेशानी मे डाल देता। परिवार के सव लोग उससे तंग हो गए। एक दिन उसे घर से निकाल दिया गया। घर के वाहर उसने कुछ लोगो का जमघट देखा। वह वहा खडा हो गया। उसने देखा—उधर एक गिरगिट आया। सव लोग उसे देखते रहे। वह चला गया। कुछ समय वाद एक साप आया। लोगो मे भगदड मच गई। सांप-साप, पकडो-पकडो, मारो-मारो की आवाजें उठने लगी।

हरिकेशवल कुछ समझ नही सका। उसने वहा खड़े एक व्यक्ति से पूछा—'गिरगिट को नही मारा तो इसे क्यो मारते हो?' वह वोला—'गिरगिट किसी को सताता नही है। यह सताता है, काटता है।' वालक को वोध-पाठ मिल गया। वह समझ गया कि उसे घर से वाहर क्यो निकाला गया। उसने स्वय को साप के स्थान मे रखकर अपना गुस्सा देखना शुरू किया। गुस्से को देखना प्रारम्भ कर दिया जाए तो वह टिकता नही है।

देखे अपने आपको

प्रेक्षाध्यान का सूत्र है—**'सपिक्खए अप्पगमप्पएणं'**—आत्मा से आत्मा को देखें। ज्ञान-आत्मा से कपाय-आत्मा को देखें। देखते-देखते कपाय छूट जाता है और देखने वाला रह जाता है। यह एक वैज्ञानिक प्रयोग है। श्वास को देखना शुरू करें, उसकी लम्वाई वढ जाएगी। एक मिनट मे एक-दो श्वास लेने की स्थिति वन जाएगी। इस दृष्टि से देखने का मूल्य है। जिस क्षण व्यक्ति अपने क्रोध, अभिमान

आदि अवगुणो को गहराई से देख लेता है, इनके नीचे की जमीन खिसक जाती है। ये अस्तित्वहीन वनकर रह जाते हैं।

एक सन्त और धोवी के वीच हुई मुठभेड के वाद सन्त कुछ शान्त हुए। उनकी सेवा मे देव उपस्थित हुआ। उसने वदना की। सन्त वोले—'देवानुप्रिय! तुम इतनी देर कहा थे? मुझे एक धोवी ने पीट दिया।' देव वोला—'भन्ते! मैं एक धोवी और चण्डाल की लडाई देख रहा था।' सन्त ने कहा—'देवानुप्रिय! धोवी तो मेरे साथ लड रहा था।' देव ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'वहा आप थे क्या? उस समय आप क्रोध मे आगवबूला हो रहे थे। इसीलिए मैंने आपको पहचाना नही।' सन्त को अपनी भूल का अनुभव हो गया।

जो व्यक्ति अपनी वुराई को अच्छे ढग मे देख लेता है, वह उसमे मुक्त भी हो सकता है। दु ख-मुक्ति अथवा ससार-मुक्ति का उपाय यह भी है कि व्यक्ति अपनी वुराई को देखे और उसकी गिरफ्त से स्वय को मुक्त करे।

२५. शाश्वत धर्म का स्वरूप

धर्म की जिज्ञासा मनुष्य की मुमुक्षावृत्ति का सकेत है। वह धर्म को जानना चाहता है, समझना चाहता है, उसका आचरण करना चाहता है और उसके आलोक में जीवन की गाडी को खीचना चाहता है। पर उसके सामने एक कठिनाई है। उसने धर्म के वारे मे अनेक वातें सुनी है। धर्म की अनेक परिभाषाए सुनकर उसका मन सदिग्ध हो जाता है। वह चाहता है कि धर्म का शाश्वत और मौलिक स्वरूप उसके सामने आए। इसी अभीप्सा से उसने एक प्रश्न उठाया—'सबसे प्राचीन धर्म कौन-सा है? जैन तीर्थंकरो ने इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा—

'सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा—एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए।'

किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नही करना चाहिए। उन पर शासन नही करना चाहिए। उन्हे दास नही वनाना चाहिए। उन्हे परिताप नही देना चाहिए। उनका प्राणवियोजन नही करना चाहिए। यह धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।

धर्म की बुनियाद

'आयारो' का यह धर्म मनुष्य को अहिंसा की ओर अग्रसर करता है। हिंसा समस्या है। उसका समाधान शस्त्र नही है। शस्त्रो मे प्रतिस्पर्द्धा चलती है। एक देश घातक शस्त्रो का निर्माण करता है। दूसरा उससे अधिक घातक शस्त्र वना सकता है या खरीद सकता है। शस्त्रो के साये में भय का अस्तित्व है। भयभीत व्यक्ति धर्म की साधना नही कर सकता। हिंसक व्यक्ति धर्म की छाया में भी नही वैठ सकता। इन सव सचाइयो को साक्षात् देखकर अर्हतो ने अहिंसा को शुद्ध और शाश्वत धर्म के रूप मे व्याख्यायित किया। यह व्याख्या उन्होंने किसी क्षेत्र विशेष

मे नही की, कालविशेष के लिए नही की। क्षेत्र और काल की सीमाओ से परे मनुष्य मात्र अहिंसा धर्म का आचरण करे, यह उन्हे अभिप्रेत था।

यह है धर्म का व्यापक, सार्वभौम और असाम्प्रदायिक स्वरूप। यह है धर्म के सम्बन्ध मे उभरती हुई जिज्ञासाओ का स्थायी समाधान। समय बदले, परिस्थितिया बदले और देश बदले, पर धर्म के इस स्वरूप मे बदलाव नही आ सकता। कोई भी अर्हत्, तीर्थंकर या आप्तपुरुष हिंसा मे धर्म का निरूपण नही कर सकता। हिंसा किसी भी परिस्थिति मे हो, वह हिंसा है। हिंसा मे धर्म की कल्पना, जल मे नवनीत पाने जैसी कल्पना है। धर्म की बुनियाद अहिंसा है और अहिंसा ही रहेगी। इसी तथ्य को प्रस्तुति देते हुए मैंने गीत मे लिखा है—

मैत्री की इस भव्य भित्ति पर,
सत्य अहिंसा के खभो पर,
टिका हुआ है महल मनोहर,
सदा सचेतन सत्य धर्म की जय हो जय,
शान्ति निकेतन सत्य धर्म की जय हो जय।

सम्प्रदाय है एक व्यवस्था

धर्म का स्वरूप व्यापक है, असाम्प्रदायिक है, इस कारण किसी सम्प्रदाय पर आच आती हो, यह बात नही है। वाद का रूप न ले तो सम्प्रदाय का अपना उपयोग है। रस और गूदे की सुरक्षा के लिए छिलके का जितना मूल्य है, उतना ही मूल्य है सस्कारो और परम्पराओ को सुरक्षित रखने की दृष्टि से सम्प्रदाय का। एक गाव मे अनेक बाजार होते हैं। एक बाजार मे अनेक दुकानें होती है। इसी प्रकार एक ही सत्य को जनता तक पहुचाने के लिए अनेक सम्प्रदाय हो सकते है। यदि कोई सम्प्रदाय अपने आपको सत्य मानकर अन्य सम्प्रदायो को सर्वथा मिथ्या मानने लगे तो वह अपनी सत्यता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है।

मेरे अभिमत से सम्प्रदाय एक व्यवस्था है। मुक्त आकाश बहुत अच्छा लगता है। पर आवास की दृष्टि से मकान का निर्माण कराना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार सर्वधर्मसद्भाव का घोष बहुत प्रिय लगता है। पर सद्भाव की बात तभी सार्थक होगी जब अनेक धर्मो का अस्तित्व हो। धर्म का अर्थ यहा धर्म-सम्प्रदाय ही करना उचित होगा। क्योकि धर्म एक सार्वभौम तत्त्व है। उसमे कभी असद्भाव की सभावना ही खडी नही होती। सद्भाव, समन्वय, सामजस्य जैसे शब्द अनेकता मे एकता की सूचना देने वाले हैं।

आस्था की पहचान

जैन धर्म की अपनी परम्परा है। जिन लोगो की इस धर्म म आस्था है, वे अपनी

धार्मिक पहचान बनाना चाहते हैं। आगम साहित्य मे आस्था को पहचान देते हुए कहा गया है—

'अरहंतो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं॥'

अर्हत् मेरे देव हैं, पाच महाव्रतो का जीवन भर पालन करने वाले साधु मेरे गुरु हैं और अर्हतो द्वारा प्ररूपित तत्त्व मेरा धर्म है—इस सम्यक्त्व को मैंने स्वीकार किया है।

व्यवहार की भूमिका पर देव, गुरु और धर्म की स्वीकृति का नाम सम्यक्त्व है। निश्चयनय के अनुसार दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम, उपशम या क्षय से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। सम्यक्दृष्टि व्यक्ति देव, गुरु और धर्म को आदर्श, पथदर्शक और पथ के रूप मे स्वीकार करता है।

जैनत्व से जुड़े संकल्प

हमारे धर्मसघ मे धार्मिक आस्था स्वीकार करने की एक निश्चित पद्धति है। उसके अनुसार देव, गुरु और धर्म के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति के साथ कुछ सकल्प दोहराए जाते हैं। उन सकल्पो की भाषा इस प्रकार है—

१ मैं जैन हूं। तेरापथी हू। इसलिए अहिंसा मे निष्ठा रखूंगा। अहिंसा के न्यूनतम आचरण की दृष्टि से—मैं किसी निरपराध प्राणी की हत्या नही करूंगा।

- आत्महत्या नही करूगा।
- भ्रूण-हत्या नही करूंगा।
- आवेश मे आकर कोई अवाछनीय काम नही करूंगा।
- घर छोड़कर नहीं भागूगा।

२. मैं जैन हूं, तेरापथी हूं, इसलिए व्यसनमुक्त रहूगा—

- मैं मांस-अण्डे आदि अभक्ष्य वस्तुओ का सेवन नही करूंगा।
- मैं मद्यपान नही करूगा।
- मैं धूम्रपान नही करूगा।
- मैं जर्दा, पान पराग, गुटका आदि किसी नशीले पदार्थ का सेवन नही करूंगा।

३. मैं जैन हूं, तेरापंथी हूं, इसलिए हरे-भरे बड़े वृक्ष को अपने हाथ से नही काटूगा।

४. मैं जैन हू, तेरापंथी हूं, मद्य-मांस का व्यवसाय नही करूंगा।

५. मैं जैन हूं, तेरापथी हूं, इसलिए किसी बात मे दुराग्रह नही करूगा। विवाद के प्रसंग मे यथासभव सामंजस्य बिठाने का प्रयास करूंगा।

६ मैं जैन हू, तेरापथी हू, इसलिए सवत्सरी का उपवास अवश्य करूगा।
७ मैं जैन हू, तेरापथी हू, इसलिए कम-से-कम दस मिनट 'णमोक्कार मत्र' का जप अवश्य करूगा।

विश्व धर्म बनने की क्षमता वाला धर्म

जैनधर्म मे आस्था का केन्द्र कोई व्यक्ति विशेष नही है। उसका अनुबध गुणात्मकता के साथ है। गुणात्मकता का मानदण्ड है राग और द्वेष का विलय। जो व्यक्ति वीतराग है, राग और द्वेष मे मुक्त है, वह बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु आदि किन्ही नामो मे पहचाना जाता है, उसे आदर्श और प्रणम्य माना गया है। राग-द्वेष का अस्तित्व है तो ऋषभ या महावीर नाम से भी कोई प्रयोजन नही है। इस अवधारणा के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि जैनधर्म एक व्यापक दृष्टिवाला धर्म है। यदि इसकी व्यापकता से जन-जन को परिचित कराया जाए तो यह जनधर्म के रूप मे प्रतिष्ठित हो सकता है।

एक मिलन प्रसग मे काका कालेलकर ने कहा—'जैनधर्म मे विश्व धर्म बनने की क्षमता है।' मैं स्वय इस चिन्तन मे सहमत हू। पर यह तब सभव है, जब जैन लोग अपने साम्प्रदायिक अभिनिवेशो से ऊपर उठकर जैनधर्म के मौलिक व सर्वमान्य सिद्धान्तो को प्रमाणित करने के लिए सम्मिलित रूप मे एक सघन योजना बनाए। अपने-अपने सम्प्रदाय की परम्पराओ को सुरक्षित रखते हुए हम भगवान् महावीर की वाणी को एक रूप मे प्रस्तुति दे सकें तो शाश्वत धर्म का सही स्वरूप उजागर हो सकता है।

२६. आत्म-दर्शन का राजमार्ग

आत्मा के तीन रूप हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा आत्मा के मूल स्वरूप या चरम उत्कर्ष की अवस्था है। परमात्मा को खोजने अथवा परमात्मा के साथ साक्षात्कार करने का माध्यम है अन्तरात्मा। अन्तरात्मा को समझने के लिए वहिरात्मा को समझना भी आवश्यक है। जीव को समझने के लिए अजीव को समझा जाता है। मित्रो की पहचान करने के लिए शत्रुओ का वोध किया जाता है। इसी प्रकार अन्तरात्मा को जानने के लिए वहिरात्मा को ज्ञान का विषय वनाया जाता है।

दो रूप आत्मा के

कोई भी ससारी आत्मा अपने शुद्ध रूप मे नही होता। यदि उसका शुद्ध स्वरूप होता तो उसे अशुद्ध कौन वनाता? यदि आत्मा आत्मा ही होता तो उसके पीछे तीन विशेषण क्यो जोडे जाते? जीवन को दो प्रकार की अवस्थाओ मे देखा जा सकता है—वहिरात्मभाव और अन्तरात्मभाव। पहली अवस्था राग-द्वेषात्मक है। यह आत्मा के साथ जुडे हुए विजातीय द्रव्यो की सूचना देती है। अन्तरात्मभाव आत्मा की शुद्ध अवस्था है। इस अवस्था को पहचानने के लिए अशुद्ध अवस्था की अवगति भी अपेक्षित है।

जव तक आत्मा परमात्मा नही वनता, उसके साथ अनेक विशेषण जुडे रहते हैं। उन विशेषणो मे विशिष्ट आत्मा को आत्मा न मानें तो दृष्टिकोण मिथ्या हो जाता है। सविशेषण आत्मा की व्याख्या की जाए तो वह वहिरात्मा और अन्तरात्मा—इन दो वर्गो मे अपने अनेक रूपो को समाहित कर लेता है।

आत्मा के आठ प्रकार

आत्मा के अनन्त रूप हो सकते है। भगवती सूत्र मे उसके आठ रूपो का उल्लेख मिलता है—द्रव्य आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा,

दर्शन आत्मा, चारित्र आत्मा और वीर्य आत्मा। प्रश्न है कि इन आठ आत्माओ मे वहिरात्मा कौन है और अन्तरात्मा कौन है ?

कपाय आत्मा वहिरात्मा है। इसका सम्वन्ध है क्रोध, मान, माया और लोभ के साथ। ये अनन्तानुवन्धी हो या सज्वलन, इनका समावेश कपाय आत्मा मे होगा।

योग आत्मा वहिरात्मा भी है, अन्तरात्मा भी है। योग के दो रूप वनते हैं—शुभ और अशुभ। शुभ योग अन्तरात्मा है, अशुभ योग वहिरात्मा है।

दर्शनात्मा भी वहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनो हैं। मिथ्या दर्शन वहिरात्मा है, सम्यक् दर्शन अन्तरात्मा है।

उपयोग, ज्ञान और चारित्र—ये तीन आत्मा अन्तरात्मा हैं। वीर्य आत्मा दोनो हैं—अन्तरात्मा भी है और वहिरात्मा भी है। वालवीर्य वहिरात्मा है और पडितवीर्य अन्तरात्मा है।

अव शेष रहा द्रव्य आत्मा। यह क्या है ? आगम कहते हैं कि केवल द्रव्य आत्मा कही उपलव्ध नही होता। उपयोग, ज्ञान और दर्शन के विना यह रह ही नही सकता। कल्पना के आधार पर इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया जाए तो यह न अन्तरात्मा है और न वहिरात्मा। इस स्थिति मे इसे परमात्मा माना जा सकता है।

गृहस्थ भी अन्तरात्मा हो सकता है

गृहस्थ जीवन और साधु-जीवन अन्तरात्मा है या वहिरात्मा ? इस प्रश्न का उत्तर डमरुकमणि न्याय मे मिलता है। डमरु को वजाने के लिए जो मनका उसके वीच मे वाधा जाता है, वह उसे दोनो ओर से वजाता है। इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन मे वहिरात्मा और अन्तरात्मा—दोनो आत्माओ का दर्शन हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि गृहस्थ-जीवन मे वहिरात्मा प्रमुख है और साधु-जीवन मे प्रमुखता है अन्तरात्मा की। तामली तापस ने साठ हजार वर्षो तक तपस्या की, फिर भी वह वहिरात्मा रहा।

सम्राट भरत चक्रवर्ती थे। छह खण्डो वाले भरत क्षेत्र पर उनका आधिपत्य था। साम्राज्य की प्रत्येक गतिविधि से जुडे रहकर भी वे अन्तरात्मा थे। उनको केवल ज्ञान की उपलव्धि उसी अवस्था मे हुई थी।

अनाथी मुनि ने दो प्रकार की अनाथता वताई। एक प्रकार की अनाथता सामने दीखती है। जिस व्यक्ति का कोई त्राण देने वाला नही होता, जिसकी सार सभाल करने वाला नही होता, वह अनाथ कहलाता है। दूसरे प्रकार की अनाथता आन्तरिक दयनीयता की सूचक है। इसमे व्यक्ति ससार छोडकर साधु वनता है, तपस्या करता है, फिर भी वह अनाथ रह जाता है। कैसे ?

मुनि होने पर भी खाने की लोलुपता नही छूटती। औद्देशिक, क्रीत आदि अकल्पनीय पदार्थों का व्यामोह नही छूटता। प्रासुक-अप्रासुक का विवेक नहीं रहता। ऐसे साधु को कूट कार्षापण की उपमा दी गई है। तावे का रुपया, ऊपर सोने का मुलम्मा, यह होता है खोटा रुपया।

साधु का वेश, आचरण गृहस्थ का। ऐसी स्थिति मे साधु भी वहिरात्मा रहता है। साधु जैसा आचरण हो, पर हो केवल प्रदर्शन के लिए। उसमें साधुता कहा टिकेगी? प्रतिलेखन, प्रमार्जन, प्रतिक्रमण, देखकर चलना आदि साधुचर्या मे जव तक अन्तर्भाव नही जुडता है, तव तक ये सव वहिरात्मा हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ये सव त्याज्य है।

अन्तरात्मा का प्रवेशद्वार

साधु भी वहिरात्मा हो सकता है क्या? यह प्रश्न अस्वाभाविक नही है। पर यह नही भूलना चाहिए कि साधु वनते ही सव व्यक्ति अन्तरात्मा नही हो जाते। अन्तरात्मा की स्थिति अप्रमाद की स्थिति है। जव तक प्रमाद है, अशुभ योग है, तव तक वहिरात्मा है। छठे गुणस्थान को प्रमादी गुणस्थान माना गया है। प्रमाद की सत्ता को मुख्य मानकर यह निरूपण किया गया है। योगरूप प्रमाद का जहा तक सवाल है, वह समय-समय पर अपना प्रभाव दिखाता है। उसके प्रभाव को प्रतिहत किए विना कोई भी अन्तरात्मा नही वन सकता।

अप्रमाद की स्थिति कैसे आ सकती है? इसके लिए अनेक उपायो मे एक है—कायोत्सर्ग का प्रयोग। कायोत्सर्ग से शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुभव किया जा सकता है। यह अनुभव ही अन्तरात्मा का प्रवेशद्वार है। आत्मदर्शन अथवा आत्मानुभव का लक्ष्य सामने रखकर चलने वाला व्यक्ति अन्तरात्मा वनने की दिशा मे प्रस्थान करता है।

अन्तरात्मा का सीधा-सा अर्थ है आत्मा मे निवास। इसके लिए सयम का अभ्यास आवश्यक है। खाद्य-सयम, दृष्टि-सयम, विचार-संयम, श्वास-संयम आदि अनेक रूप हैं सयम के। सयम का स्वाद भी अद्‌भुत होता है। जव तक इसमे रस नही आता है, सयम की साधना वहुत कष्टपूर्ण प्रतीत होती है। इस साधना मे रस आ जाए तो अन्य सभी रस फीके हो जाते हैं।

जैनधर्म मे साधना के दो रूप मान्य है—संवर और निर्जरा। सयम मे इन दोनो का समावेश हो जाता है। भगवान महावीर ने धर्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा—अहिंसा, सयम और तप जिस धर्म के अंग हैं, वह धर्म उत्कृष्ट मंगल है। इस मंगलमय धर्म की शरण स्वीकार कर व्यक्ति अन्तरात्मा वने, यही उसके आत्मदर्शन का राजमार्ग है।

२७. आत्मा ही बनता है परमात्मा

जीव के दो भेद है—सिद्ध और ससारी। सिद्ध सख्या मे अनन्त हैं। पर उनके स्वरूप मे कोई अन्तर नही होता। इनके लिए परमात्मा, परमेश्वर, ईश्वर आदि शब्दो का प्रयोग भी होता है। ससारी जीव कई श्रेणियो मे विभक्त हैं। उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—वर्गीकरण का एक प्रकार यह है। एक ही वर्ग के प्राणियो मे विकास की दृष्टि मे वहुत तारातम्य रह सकता है।

मनुष्य एक विकासशील प्राणी है। उसमे असीम विकास की क्षमता है। भौतिकी के क्षेत्र मे विकास के आसमान मे नये-नये चाद टागे जा रहे हैं। अध्यात्म के क्षेत्र मे नये विकास की गति मद है। विरासत मे जो कुछ मिला हुआ है, उसकी सुरक्षा के लिए भी सावधानी नही वरती जा रही है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य को दो श्रेणियो मे वाटा जा सकता है—वहिरात्मा और अन्तरात्मा। वहिरात्मा अध्यात्म की भाषा नही समझता, वह देह के स्तर पर जीता है और दैहिक सुख-सुविधा के साधन जुटाता है।

अन्तरात्मा अध्यात्म के क, ख, ग को पढता है। शरीर को साधन मानता है और चेतना के विकास मे विश्वास करता है। पर यह विकास की पूर्णता नही है। पूर्णता की दिशा मे अग्रसर होने पर भी वह अभी तक रास्ते मे है। रास्ता कभी मजिल नही होता। मनुष्य की मजिल है—परमात्मा। यहा पहुचने के बाद कुछ भी पाना अवशिष्ट नही रहता।

अनुराग से जागता है विराग

वहुत लोग ऐसे है, जो परमात्मा के वारे मे जिज्ञासु हैं। उनमे कुछ लोग ऐसे हैं, जो स्वय परमात्मा वनना चाहते हैं। पर वे किसी ऐसी प्रक्रिया या साधना पद्धति से परिचित नही है, जिसके सहारे वे परमात्मा वन सकें। कुछ ही लोग ऐसे है जो परमात्मा के सम्बन्ध मे जानना चाहते है, परमात्मा होना चाहते है और उसके

लिए विशेष अनुष्ठान करना चाहते है। सवाल यह है कि कौन-सा अनुष्ठान उसको सफल बना सकता है ?

हमारे ऋषि मुनियो ने परमात्मा बनने के अनेक उपायो मे एक उपाय बताया है—विराग। विराग जागता है अनुराग से। कहा भी जाता है—अनुरागाद् विराग। किसी अलौकिक वस्तु के प्रति अनुराग जाग जाए तो विराग अपने आप निष्पन्न हो जाता है।

राजकुमार अरिष्टनेमि का सम्बन्ध राजकुमारी राजीमती के साथ हुआ। वे बारात के साथ उसका वरण करने चल पड़े। मार्ग मे कोई घटना घटी। उनका मन शिव-सुन्दरी मे जाकर अटक गया। शिव सुन्दरी के प्रति अनुराग जागते ही वे राजीमती के प्रति विरक्त हो उठे। उनके अनुराग की दिशा नही बदलती तो उनसे राजीमती नही छूट सकती। उनके इस विलक्षण गुण पर मुग्ध होकर श्रीमज्जयाचार्य ने अपनी चौवीसी मे लिखा है—

राजमती छांड़ी जिनराय।
शिव-सुन्दर स्यूं प्रीत लगाय॥
रागरहित शिव मुख स्यूं प्रीत।
कर्म हणे वलि द्वेष-रहीत॥

आलम्बन आवश्यक होता है

विराग एक आलम्बन है परमात्मा की ऊंचाई तक पहुचने का। कुशल नृत्यकार पतली-सी डोरी का आलम्बन लेकर आसमान मे चलता है। दर्शक विस्मय-विमुग्ध होकर उसकी कलाबाजियां देखते हैं और उसे साधुवाद देते हैं। डोरी का आलम्बन छूट जाए तो उसके प्राण सकट मे पड़ सकते है।

योगी ध्यान करते है। ध्यान के लिए भी उनको आलम्बन की अपेक्षा रहती है। भृकुटि हो, नासाग्र हो, श्वास हो या चैतन्य केन्द्र हो, आलम्बन लेने से ध्यान मे सुविधा हो जाती है, अन्यथा इधर-उधर भागदौड करते हुए मन को केन्द्रित करना बहुत मुश्किल हो जाता है।

जिस व्यक्ति, वस्तु या मनोवृत्ति से विरत होना है, पहले उससे विरक्त होना होगा। विरक्ति केवल चिन्तन मात्र से होती नही। इसलिए जिससे विरत होना है, उसके प्रतिपक्षी की खोज की जाए। उसके प्रति अनुराग जगाते ही विवक्षित मनोवृत्ति के प्रति विराग का उद्भव हो जाएगा। पाप से विराग करना है तो धर्म के प्रति अनुराग जगा लेने से काम पूरा हो जाएगा। इसी प्रकार अब्रह्मचर्य मे विराग करना है तो अनुराग की धारा ब्रह्मचर्य की ओर प्रवाहित कर दी जाए, अभिलषित अर्थ की सिद्धि हो जाएगी।

आत्मलीनता सीधा रास्ता है

निश्चय नय का रास्ता एकदम सीधा है। वह अनुराग और विराग के झमेले को पसन्द नही करता। वह कहता है—एक के प्रतिअनुराग और दूसरे के प्रति विराग, यह द्वैध क्यो ? कभी क्रम मे विपर्यास हो गया तो समस्या इतनी उलझ जाएगी कि उसे सुलझाना कठिन हो जाएगा।

निश्चय नय मानता है कि अनुराग और विराग जैसा कोई क्रम नही है। परमात्मा बनना है तो आत्मा मे लीन हो जाओ। आत्मलीनता की स्थिति मे पहुचकर ही व्यक्ति परमात्मा हो सकता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि मनुष्य अपने मूल स्वरूप से परिचित नही है। वह न अपने आपको देखता है, न परखता है, न पहचानता है और न पाता है। जबतक आत्मस्वरूप से साक्षात्कार नही होगा, परमात्मा बनने का सपना साकार नही होगा।

ऐसे भी व्यक्ति है, इस ससार मे जो ससार मे ही रमे हुए हैं। उनकी सोच सीमित है। वे इस ससार से मुक्त होने की बात सोच ही नही सकते। इसलिए पहले यह निर्णय करना हैं कि परमात्मा बनना है क्या ?

एक देशना ने दिशा बदली

एक स्वर यह भी सुनाई देता है कि परमात्मा बनकर करना क्या है ? वहा न करने को कुछ काम है, न आमोद-प्रमोद के साधन है, न खाना-पीना है, न बातचीत करना है, न घूमना-फिरना है और न सोना है। ऐसा चिन्तन जिनका है, उनको कुछ भी करने की अपेक्षा नही है। जिन्हे परमात्मा बनना ही नही है, वे व्यर्थ का श्रम क्यो करें ?

जिनके मन मे परमात्मा बनने की भावना प्रबल हो जाती है, वे कठिन मे कठिन साधना करने के लिए तत्पर रहते हैं। जैन आगमो मे ऐसे अनेक प्रसग है, जो बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा बनकर पूर्णता तक पहुच जाते हैं।

महामुनि गजसुकुमाल एक ऐसे ही साधक थे। उन्होने बाल्यावस्था मे तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रवचन सुना। उनकी चेतना झकृत हुई। मुमुक्षा भाव जगा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वे भगवान के पास पहुचे। उन्होने अपनी भावना निवेदित की।

भगवान गजसुकुमाल की वैराग्य भावना और ससार-त्याग की उदग्र आकाक्षा को साक्षात् देख रहे थे। वे यह भी देख रहे थे कि यह बालक भव्य है, इसी भव मे मोक्ष जाने वाला है और एक दिन की साधना से ही अपना काम सिद्ध करने वाला है। उन्होने बालक गजसुकुमाल को दीक्षित कर लिया।

मुनि गजसुकुमाल का चरित्र वहुत विलक्षण है। वे जिस दिन दीक्षित हुए, उसी दिन भगवान के उपपात मे पहुचे। अवसर देखकर वे वोले—

तारो तात ! त्रिलोकीनाथ ! नियामक नैया तारो रे।
मैं हूं सक्षम आज सनाथ, लियो जो शरणो थांरो रे।।

भते ! मैं आपकी शरण मे हू। मेरी यह दृढ आस्था है कि आपकी शरण व्याधि, आधि और उपाधि-जनित सव दु.खो का अन्त करने वाली है। इसीलिए मैं मुनि वना हू। पर आप जानते है, मेरी अवस्था छोटी है और मुनिचर्या वहुत कठिन है। भिक्षाचरी, पादविहार, केशलुचन आदि न जाने कितनी क्रियाए हैं। मैं यह सारी खटपट जल्दी से जल्दी मिटाना चाहता हू। आप कृपा कर मुझे कोई ऐसा साधना-क्रम वताए, जिससे मैं अविलम्ब मुक्त हो सकू, अपनी मजिल को पा सकू।

साधना के लिए नया प्रस्थान

भगवान नेमिनाथ ने मुनि गजसुकुमाल का परीक्षण किया या नही, उल्लेख नही मिलता। उन्हे इसकी अपेक्षा भी नही थी। क्योकि वे सव कुछ जान रहे थे, देख रहे थे। उन्होंने कहा—'तुम तीन दिन का उपवास स्वीकार कर ध्यान करो। ध्यान का स्थान है श्मशान। श्मशान मे जाकर पूरी रात खडे-खड़े ध्यान का प्रयोग करो। यह भिक्षु की बारहवी प्रतिमा है। इसकी साधना करते समय कोई दूसरा साधु तुम्हारा परिचारक या सहायक नही होगा। वहा जो कुछ घटित हो, अकेले को सहन करना होगा।'

मुनि गजसुकुमाल उत्साह प्रकट करते हुए वोले—'भन्ते ! आपने अत्यन्त कृपा की। आपका पावन पथदर्शन मेरे जीवन को आलोक से भर देगा। आपने जो साधनाक्रम वताया है, वह मुझे स्वीकार है। मैं आज ही श्मशान मे जाकर साधना प्रारम्भ करता हू।

मुनि गजसुकुमाल श्मशान मे पहुच ध्यान की गहराई मे उतर गए। उस समय सोमिल नाम का एक ब्राह्मण उधर आया। गजसुकुमाल को साधुवेश मे देख वह उवल उठा। उसके आक्रोश का कारण था—गजसुकुमाल द्वारा उसकी पुत्री का परित्याग। उसकी रूपवती पुत्री की सगाई गजसुकुमाल के साथ हुई। उसके साथ विवाह हो, इससे पहले ही वह भगवान नेमिनाथ के समवसरण मे पहुच गया। वहां उनकी देशना सुन, विरक्त हो मुनि वन गया।

सोमिल के मन मे प्रतिशोध के भाव जागे। उसने ध्यानस्थ मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल वांधकर वहां जलते हुए अगारे रख दिए। सिर जलने लगा। असह्य पीडा हुई। पर मुनि पाषाण की प्रतिमा वनकर खड़े रहे। शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुचिंतन अर्थात् अन्यत्व भावना का प्रयोग कर उन्होंने

उस प्राणहारी पीडा को शान्तभाव से सहन किया। अगारे शरीर को जलाते रहे और आत्मा को उजालते रहे। आखिर वह क्षण आया, जब वे स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर के बन्धन को काटकर मुक्त हो गए।

परमात्मपद या पागलपन

मुनि गजसुकुमाल ने भगवान से साधना का इतना कठोर मार्ग क्यो पूछा? उन्होंने पूछ लिया, पर भगवान ने क्यो बताया? दोनो का एक ही उद्देश्य था—परमात्मपद की प्राप्ति। गजसुकुमाल परमात्मा बनने की उत्कठा लेकर आए और भगवान ने उनको परमात्मा से साक्षात्कार ही नही कराया, परमात्मा बना दिया।

परमात्मा बनने की प्रक्रिया कोई गणित का सवाल नही है, जिसका निश्चित नियम होता है। परमात्मा होने का कोई नियम नही है। भगवान ने मुनि गजसुकुमाल को तीन दिन का उपवास करने का निर्देश दिया। उनको तीन दिन भूखा रहना ही नही पडा। एक दिन मे उनका प्रयोजन सिद्ध हो गया।

भिक्षु की बारहवी प्रतिमा स्वीकार करने वाले साधक दो प्रकार के परिणामो से गुजरते हैं। जो साधक मनुष्य, देव या तिर्यचो द्वारा किए गए उपद्रव सम्यक् प्रकार से सहन नही कर पाता है, वह पागल हो जाता है अथवा मृत्यु को प्राप्त होता है। जो उन उपद्रवो को समभाव से सह लेता है, वह अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्राप्त करता है, सिद्ध हो जाता है।

मुनि गजसुकुमाल साधना मे आए उपद्रव से विचलित नही हुए, इस कारण वे सिद्ध हो गए। परमात्मा बन गए। उनकी यह लोमहर्षक कहानी उन लोगो के लिए प्रेरणा-प्रदीप है, जो साधना के क्षेत्र मे शीघ्र सिद्धिदायक नये प्रयोग करना चाहते हैं।

२८. पहचान : अन्तरात्मा और बहिरात्मा की

अध्यात्म का स्वर आत्मा मे रहने का स्वर है। आत्मा मे रहना कठिन है। संसार मे अनेक प्रकार के आकर्षण है, जो व्यक्ति का ध्यान बाहर की ओर खीचते हैं। उन आकर्षणो मे एक चेप होता है, जो उधर देखनेवाले को चिपका लेता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो एक झटके के साथ उस चेप से मुक्त हो जाते हैं और अन्तरात्मा की ओर प्रस्थान करते है। पर उसमे भी स्थायित्व कहां है? अन्तरात्मा से बहिरात्मा और बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने का क्रम चलता रहता है। सब रास्ते खुले है। कौन किस रास्ते पर आगे बढता है, यह व्यक्ति के चिन्तन, विवेक और साहस पर निर्भर करता है।

अन्तरात्मा के दरवाजे

सम्यक्त्व एक दरवाजा है—अन्तरात्मा तक पहुचने का। यह दरवाजा खुलता है और बन्द हो जाता है। जब तक क्षायिक सम्यक्त्व उपलब्ध नही होता, तब तक यह स्थिति रहतीहै। क्षयोपशम सम्यक्त्व इतना ढीलाढाला होता है कि किसी भी क्षण औदयिक भाव की बाधा खड़ी हो सकती है। क्षयोपशम सम्यक्त्व मे चचलता रहती है। इसलिए एक दिन मे बीसो प्रसंग ऐसे आ सकते हैं, जब व्यक्ति अन्तरात्मा से बहिरात्मा बन जाता है।

ध्यान का प्रयोग अन्तरात्मा है। उसमे नीद लेना बहिरात्मा है। जागरूक रहना अन्तरात्मा है, गलती करना बहिरात्मा है। गलती होने पर कोई कुछ कह दे, उसे सहना अन्तरात्मा है। कहनेवाले पर आक्रोश करना बहिरात्मा है। गलती का अनुभव करना अन्तरात्मा है, गलती को गलती न मानना बहिरात्मा है। इस प्रकार न जाने कितनी कसौटियां हैं, जो अन्तरात्मा और बहिरात्मा के बीच में साफ-साफ भेदरेखा खीच सकती है।

शरीर से सुन्दर · चित्त से असुन्दर

अतुकारी नाम की एक कन्या थी। जैसा उसका नाम, वैसा ही गुण। उसे कोई तू नही कह सकता। माता-पिता की इकलौती वेटी। लाड-प्यार मे विगड गई। उसका दिमाग आसमान पर चढा रहता। घर के छोटे-वडे सव लोग उसे वहुमान देते। उसे डाटना तो वहुत दूर, उसकी इच्छा विना कोई कुछ भी नही कर सकता।

स्वभाव से जिद्दी और अहकारी अतुकारी रूप-लावण्य की साक्षात् प्रतिमा थी। उसका नख-शिख सौदर्य से अभिमडित था। अवस्था के साथ सौदर्य मे निखार आया। वह अनेक विद्याओ और कलाओ मे भी निष्णात थी। विवाह का समय आया। अनेक युवक उसके साथ विवाह करने के लिए उत्सुक थे। पर उसकी शर्त सुनकर उनका हौसला पस्त हो जाता। शर्त यह थी—अतुकारी की शादी उसी युवक के साथ हो सकेगी, जो जीवन भर इसकी आज्ञा का पालन करे, इसके अनुशासन मे रहे। आज्ञा का अतिक्रमण होने पर वह कोई भी एक्शन ले सकती है।

अतुकारी के रूप लावण्य और कलाकौशल की वात सुन सैकडो युवक आए, पर उसकी शर्त सुनकर लौट गए। कुछ युवक शर्त को स्वीकार करने के लिए तैयार भी हुए। किन्तु पुरुप-सत्तात्मक समाज मे प्राप्त सस्कार आडे आ गए। उनके अह ने उनको यह अनुमति नही दी कि वे अपनी पत्नी के अनुशासन मे रहे। सचाई तो यह है कि पति-पत्नी दोनो एक-दूसरे की इच्छाओ, आकाक्षाओ और अनुशासन को वहुमान देते हैं तभी सुखमय जीवन जी सकते है। पर कठिनाई एक ही है कि पुरुप इस स्थिति को शब्दो से स्वीकार नही करता।

मन्त्री की दुविधा

राजा के प्रधानमत्री ने अतुकारी के वारे मे अनेक प्रकार की सूचनाए सुनी। वह उसके साथ शादी करने के लिए तैयार हो गया। धूमधाम के साथ शादी हो गई। मत्री बहुत जागरूक था। वह अतुकारी की आज्ञा तो क्या, इगित का भी अतिक्रमण नही होने देता। चुगलखोर लोग राजा के पास पहुचकर वोले—'आपका प्रधानमन्त्री आपकी आज्ञा से भी अधिक महत्त्व पत्नी की आज्ञा को देता है।' राजा ने इस तथ्य की सत्यता के लिए प्रमाण मागा। वे वोले—'उसकी पत्नी का निर्देश है कि वह छह वजे तक घर पहुच जाए। इस निर्देश का पालन करने के लिए वह आपकी आज्ञा को भी नही मानेगा।'

राजा ने परीक्षा करने की सोची। दो-चार दिन वाद उसने मन्त्री से कहा—'आज कुछ मुद्दो पर विशेप मत्रणा करनी है। इसलिए आठ वजे तक घर मत

जाना ।' मन्त्री दुविधा में फंस गया । इधर पत्नी की आज्ञा, उधर राजा की आज्ञा । दोनो आज्ञाए परस्पर विरोधी थी । मन्त्री किसे माने और किसकी उपेक्षा करे ? आखिर वह सोच-विचार कर आठ बजे तक ठहर गया । मन्त्री परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गया । चुगलखोरो की जबान बन्द हो गई ।

आपे की विस्मृति

राजा मे साथ मंत्रणा का काम पूरा कर आठ बजे के वाद मन्त्री घर पहुचा । तव तक अतुकारी के तेवर वदल गए । उसने भीतर से दरवाजा वन्द कर लिया । मन्त्री ने दरवाजे पर दस्तक दी । नौकर द्वार खोलने लगे तो उसने मना कर दिया । मन्त्री ने वहुत मधुरता के साथ मिन्नतें की । पर वह आपे से वाहर हो चुकी थी, वहिरात्मा वन चुकी थी । मन्त्री ने अपनी विवशता वताई तो वह गुस्से मे बोली —'तुमने शर्त भंग कर दी । अव मैं तुम्हारे साथ नही रह सकती ।'

मन्त्री अपने ही घर के दरवाजे पर वेगाना-सा खडा था । कुछ समय वाद उसने दरवाजा खोला । मन्त्री घर मे प्रविष्ट हुआ । अतुकारी आधी की तरह दरवाजे से वाहर निकल गई । कहा जाना है ? यह चिन्तन किए विना वह जगल की ओर चली गई । अधेरी रात, अजाना रास्ता और क्रोध का आवेग । वह चलती गई ।

दृष्टिकोण मे वदलाव

कहानी कहती है कि अतुकारी चलते-चलते ऐसे गिरोह के हाथ लग गई, जो मनुष्य के खून मे औषधि वनाकर वेचता था । वहा इस उद्देश्य से अनेक स्त्री-पुरुष भयंकर यातना सह रहे थे । उन्ही के वीच उसे रहना पड़ा । उस गिरोह के लोग शस्त्रों के प्रयोग से स्त्री-पुरुषों के शरीर से वूद-वूद कर खून लेते थे । जव वे वेहोश होने लगते तो उन्हे सघन चिकित्सा कक्ष मे भेज दिया जाता । कालान्तर मे घाव भर जाने के वाद उन्हे फिर उसी क्रम से गुजारते ।

अतुकारी के साथ यह हादसा घटा तव तक वह अपना आपा सभाल चुकी थी । उसे अपने किए पर वहुत अनुताप हुआ, पर अव क्या हो सकता था । वह वहिरात्मा से अन्तरात्मा वन गई । उसका दृष्टिकोण वदल गया । जीवन के इस भयंकर कष्टमय समय को वह समता से विता रही थी ।

अनुभव भटकन का

पत्नी के आवेशपूर्ण व्यवहार को मन्त्री ने शान्ति से सहन कर लिया । पर उसका यों घर से भाग जाना उसके लिए असह्य हो गया । उसने उसके पीहर खोज करवाई । वहा कोई सुराग नहीं मिला । उसके माता-पिता और भाई दु खी हो

गए। चारो दिशाओ मे आदमी भेजे गए, पर अतुकारी नही मिली। आखिर उसके भाई उसकी खोज मे निकले और खोजते-खोजते सही स्थान पर पहुच गए।

अतुकारी अपने भाइयो को देखते ही पहचान गई। वे उसे पहचान नही पाए। पूछताछ करने पर उन्हे सारी वात का पता लगा। वहन को पहचानते ही उनकी आखो मे हर्ष के आसू छलक पडे। वे वोले—'वहन ! तू यहा कहा आ गई ?' आतुकारी ने आखें झुका ली। साहस वटोरकर उसने कहा—'भैया ! पूछो मत। मैं भटक गई।' भाइयो ने जैसे-तैसे रुपये देकर अपनी वहन को उन क्रूर लोगो के चगुल से मुक्त किया। उसके घर पहुचने पर दोनो परिवारो मे खुशिया छा गईं।

परीक्षा मे उत्तीर्ण

इस घटना के वाद अतुकारी के जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन आ गया। उसका अहकार विनम्रता मे वदल गया। क्रोध के स्थान पर उसके जीवन मे शान्ति विराज गई। अकारण गुस्सा करने वाली लडकी प्रचण्ड गुस्से के कारण उपस्थित होने पर भी शान्त रहती। उसकी क्षमाशीलता की स्वर्ग मे प्रशसा हुई। एक देव उसकी परीक्षा करने के लिए आया। कहानी वहुत लम्बी चलती है। संक्षेप मे कहा जाए तो देव ने अनेक वार उसकी परीक्षा ली। अतुकारी हर परीक्षा मे खरी उतरी।

देव प्रसन्न हुआ। उसने प्रकट होकर अपने आगमन का उद्देश्य वताया और जिज्ञासा की—'क्षमा की प्रतिमूर्ति ! तुम इस आदर्श तक कैसे पहुची ?' अतुकारी देवसभा मे अपनी प्रशसा की वात सुनकर भी गर्वित नही हुई। वह शान्त भाव से वोली—'देवश्रेष्ठ ! मैंने अपने जीवन मे भयकर गुस्सा किया और उसका भयकर परिणाम भोगा। अव मेरा गुस्सा मर गया।' देव के आग्रह पर उसने पूरा घटना-चक्र सुना दिया। देव का सन्देह निवृत्त हो गया। वह स्वर्ग मे लौट गया।

अपना परीक्षण अपने द्वारा

अतुकारी की यह घटना सवके लिए एक प्रेरणा है, शिक्षा है, प्रतिवोध है। आत्म-साधना का सकल्प स्वीकार कर चलनेवालो के लिए यह एक दर्पण है। वे इस दर्पण मे अपना चेहरा नही, जीवन देखें। अपने स्वभाव, आदत और व्यवहार को देखें। गहराई से देखें और अनुभव करें कि वे वहिरात्मा हैं या अन्तरात्मा ?

वहिरात्मा और अन्तरात्मा—ये दो मार्ग हैं। एक मार्ग मे दुख है, दूसरे मे शान्ति है। एक मार्ग भटकाने वाला है, दूसरा मजिल तक पहुचाने वाला है। एक मार्ग मे विग्रह है, दूसरे मार्ग मे निग्रह है। इन्द्रियो और मन को निगृहीत करने की वात कठिन अवश्य है, पर इससे वडा कोई सुख ससार मे नही है। आचार्य भिक्षु

ने हमको अन्तरात्मा बनने का रास्ता बताया है। हम उस रास्ते पर चल रहे है। हमे इस बात का ध्यान रखना है कि कोई दुनियावी आकर्षण या प्रलोभन हमे अपने पथ से हटा न दे।

सुविधावाद एक ऐसा आकर्षण है, जो बडे-बड़े साधको को विचलित कर देता है। महत्त्वाकाक्षा एक ऐसा आकर्षण है, जो अन्तर्मुखी चेतना को बहिर्मुखी बना देता है। नाम और यश की भूख, पद का व्यामोह तथा शिष्य बनाने की प्रतिस्पर्द्धा आदि ऐसे घुन हैं, जो भीतर ही भीतर व्यक्तित्व को खोखला बना देते है। इन सबसे दूर रहकर आत्म-हित के लिए केन्द्रित होना हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सतत स्मृति रहेगी तो अन्तरात्मा को बहिरात्मा बनने का अवसर नही मिलेगा।

अन्तरात्मा और बहिरात्मा की इस चर्चा का उद्देश्य है—बहिरात्मा को अन्तरात्मा और अन्तरात्मा को परमात्मा बनने की प्रेरणा मिले। इस समग्र चर्चा का साराश है—अठारह पापो से विरत रहना अन्तरात्मा होना है और अठारह पापो मे रत रहना बहिरात्मा बनना है। दूसरे शब्दो मे अप्रमाद, अकषाय और शुभयोग की प्रवृत्ति अन्तरात्मा की भूमिकाएं हैं। प्रमाद, कषाय और अशुभ योग बहिरात्मा है।

मनोविज्ञान की भाषा मे निषेधात्मक भावो मे रहना बहिरात्मा है और विधेयात्मक भावो मे रहना अन्तरात्मा है। दोनो दिशाए स्पष्ट रूप से अलग-अलग हैं। जिस व्यक्ति को जिस दिशा मे आगे बढना है, वह उसी ओर प्रस्थान करे तो मंजिल की दूरी कम कर सकता है।

२६. जहां से सब स्वर लौट आते हैं

पौराणिक कहानी है कि देव, दानव और मनुष्य अपने स्वरूप की जिज्ञासा लेकर ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने एक तालाब की ओर इशारा करते हुए कहा—'वहा जाओ, तालाब मे झाको और अपना स्वरूप देखो।' ब्रह्मा का आदेश मिलते ही तीनो वहा गए। देवो ने पानी मे झाका। उन्हे अपूर्व सौंदर्य का दर्शन हुआ। दानवो ने देखा। उनको बडे-बडे दात और सिर पर उगे सीगोवाला डरावना रूप दिखाई दिया। अब मनुष्यो की बारी थी। वे तालाब पर झुके। उनके चेहरे पर न अतिरिक्त सौन्दर्य था और न किसी प्रकार की भयावहता थी।

देव, दानव और मनुष्य ब्रह्मा के पास लौट आए। ब्रह्मा ने पूछा—'तुमने वहा क्या देखा ?' देवो ने कहा—'हम बहुत सुन्दर हैं।' दानव बोले—'हमारा स्वरूप डरावना है।' मनुष्यो ने कहा—'हमने वहा जो कुछ देखा, वह हमारा स्वरूप नहीं है। इसे जो देखने वाला है, तत्त्व वह है।' ब्रह्मा बोले—'देव और दानव अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकेंगे। क्योंकि इनकी पहुच इतनी गहरी नही है। यह मनुष्य ऐसा प्राणी है, जो बहुत समझदार है। स्वरूप-बोध की आशा इसी मे की जा सकती है।'

आत्मा और जीव

आत्मा और जीव दो शब्द हैं। एक अपेक्षा मे ये दोनो एक ही अर्थ के वाचक है। दूसरी अपेक्षा कहती है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ के वाचक नही हो सकते। प्रत्येक शब्द का अपना भिन्न अर्थ होता है। इस तथ्य के आधार पर आत्मा और जीव के बीच एक विभाजक रेखा खीची जा सकती है। आत्मा का अर्थ है—अपने चैतन्य आदि गुणो और पर्यायो मे सतत परिणमन करने वाला चेतन तत्त्व। जीव का अर्थ है—शरीर और आयुष्य को धारण करने वाला चेतन तत्त्व। इन परिभाषाओ के आधार पर देहमुक्त चेतना को आत्मा और देहयुक्त चेतना को जीव कहा जा सकता है।

देहमुक्त आत्मा अमूर्त होती है। उसके स्वरूप को परिभाषित किया जा सकता है, दिखाया नही जा सकता। आत्मा के बारे मे जिज्ञासा करनेवालो के सामने प्रारम्भ मे ही उसके अमूर्त स्वरूप की चर्चा होगी तो कुछ भी समझ मे नही आएगा। यह निश्चय की बात है। प्रारम्भ मे पूछा जाए कि आत्मा या जीव क्या है? तो उसके व्यावहारिक उत्तर ये हो सकते हैं—

- जिसके शरीर होता है, वह आत्मा है।
- जिसके इन्द्रियां होती है, वह आत्मा है।
- जिसके योग और उपयोग होते है, वह आत्मा है।
- जो आहार करता है, वह आत्मा है।
- जो श्वास लेता है, वह आत्मा है।
- जो सोचता है, बोलता, चलता है, वह आत्मा है।
- जो सुख-दुख का अनुभव करता है, वह आत्मा है।

परमात्मा अगम्य होता है

यह संसारी आत्मा का अथवा सशरीरी आत्मा का स्वरूप है। सिद्ध-आत्मा का रूप अगम्य और अवाच्य होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान महावीर की स्तुति मे लिखा है—

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं, वचस्विनामक्षवतां परोक्षम्।
श्री वर्धमानाभिधमात्मरूपमह स्तुतेर्गोचरमानयामि॥

जो अध्यात्मविदो के लिए अगम्य है, जो वागीशो के लिए अवाच्य है और जो इन्द्रिय-चेतना मे परोक्ष है, भगवान वर्धमान के उस आत्मस्वरूप की मैं स्तुति करता हू।

आचार्य हेमचन्द्र जैसे प्रकाण्ड विद्वान भी जिसे नही जान सकते, जिसके बारे मे नही बता सकते, जिसको नही देख सकते, उस आत्मा के बारे मे साधारण लोग क्या जानेंगे? आयारो मे आत्मा को ज्ञाता बताते हुए कहा गया है—'जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आया'—'जो आत्मा है, वह ज्ञाता है और जो ज्ञाता है, वह आत्मा है। क्योकि वह जानता है, इसलिए वह आत्मा है।

दूध में मक्खन . शरीर मे आत्मा

सन्त उपदेश कर रहे थे। आत्मा और शरीर की भिन्नता का प्रसग चर्चित हुआ। एक युवक खडा होकर बोला—'आत्मा नाम का कोई तत्त्व है, मैं नही मानता। यह शरीर ही आत्मा है।' सन्त ने उसको युक्तियो से समझाने का प्रयास किया पर उसने अपना आग्रह नही छोडा। उसने कहा—'आत्मा है तो मुझे हाथ मे लेकर

दिखाओ।' सन्त बोले—'आत्मा अरूपी सत्ता है। यह हाथ मे लेने की वस्तु नही है।' युवक नही माना।

सन्त ने युवक से कहा—'एक प्याला दूध लाओ।' युवक ने सोचा कि सन्त को भूख लग गई है। वह गया और धारोष्ण दूध से भरा प्याला लेकर आ गया। सन्त ने प्याला हाथ मे लिया और उसे ध्यान से देखना शुरू किया। युवक झुझला उठा। वह बोला—'आप करते क्या है? इतनी देर हो गई, दूध पी क्यो नही लेते?' सन्त ने शान्त भाव मे कहा—'मैं देख रहा हू कि दूध मे मक्खन कहा है?' युवक अपनी हसी नही रोक सका। वह हसते-हसते बोला—'मुनिवर! मक्खन ऐसे कहा दिखाई देगा। पहले दूध को तपाना होगा, ठण्डा करना होगा, जमाना होगा, फिर मथना होगा। इतनी प्रक्रिया के वाद मक्खन निकलेगा।'

सन्त ने मुस्कान विखेरते हुए पूछा—'तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिला या नही?' यह वात सुन युवक सहम गया। वह बोला—'कौन-सा प्रश्न?' सन्त ने कहा—'इस शरीर मे अवस्थित आत्मा को जानना है तो पहले उसे तपाओ, जमाओ और मथो। तपस्या करो, ध्यान करो और अपनी पूरी शक्ति का उसमे नियोजन करो, आत्मा अपने आप दिखाई देने लगेगी। केवल वातो से उसे देखना है तो तुम पहले इस दूध मे घी दिखाओ, मै तुम्हे आत्मा हाथ मे लेकर दिखा दूगा। युवक को समाधान मिल गया।

नेति के द्वारा तत्त्व-वोध

तत्त्व को समझाने की दो शैलिया हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक शैली मे अस्तित्व का निरूपण होता है। जैसे—आत्मा है। वह अरूपी सत्ता है। उसके असख्य प्रदेश है। वह कर्ता है। भोक्ता है। वन्ध और मोक्ष आत्मा का होता है। इस प्रकार आत्मा के वारे मे थोडी-वहुत जानकारी हो जाती है।

नकारात्मक शैली मे नेति-नेति के द्वारा तत्त्व का अववोध कराया जाता है। 'आयारो' मे परमात्मा की मीमासा इसी शैली मे की गई है। परमात्मा शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य नही होता। इस दृष्टि से कहा गया है कि वहा से सव स्वर लौट आते हैं—'**सव्वे सरा णियट्टंति**।' जो शब्द द्वारा प्रतिपाद्य नही है, वह क्या है? इस जिज्ञासा से उसके स्वरूप का जो विश्लेपण हुआ है, वह इस प्रकार है—'परमात्मा तर्कगम्य नही है। वह मति के द्वारा ग्राह्य नही है। वह अकेला—शरीर रहित और ज्ञाता है। वह न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमडल है। वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत है और न शुक्ल है। वह न सुगन्ध है और न दुर्गन्ध है। वह न तिक्त है, न कटु है, न कपाय है, न अम्ल है और न मधुर है। वह न कर्कश है, न मृदु है, न गुरु है, न

लघु है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है और न रुक्ष है। वह शरीरवान् नही है, जन्मधर्मा नही है, वह लेपयुक्त नही है, वह न स्त्री है, न पुरुप है और न नपुसक है। वह न शब्द है, न रूप है, न गन्ध है, न रस है और न स्पर्श है।'

परमात्मा यह नही है, वह नही है तो है क्या? इस प्रश्न का सक्षिप्त-सा समाधान है—वह परिज्ञा है, सजा है, सर्वत. चैतन्यमय है। वास्तविकता यह है कि उसका वोध कराने ले लिए कोई उपमा नही है। वह अमूर्त अस्तित्व है। वह पदातीत है। उसका वोध कराने के लिए कोई पद नही है।

भावों से वनता है व्यक्तित्व

आचार्य कुन्दकुन्द का अभिमत है कि निश्चय मे आत्मा कर्मो की कर्ता नही है। आत्मा को कर्ता और भोक्ता मानना मात्र व्यवहार है। वास्तव मे वह अपने भावो का कर्ता है। निश्चय और व्यवहार का यह अन्तर प्रत्येक व्यक्ति समझ नही सकता। फलत: वह इनमे उलझ जाता है और कभी-कभी अपनी आस्था को खो देता है।

भाव तीन हैं—औदयिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। पारिणामिक भाव इन सवके साथ रहता ही है। जव तक औदयिक भाव प्रवल होता है, मनुष्य की वुद्धि या समझ कम रहती है। उदय भाव कमजोर होता है, तव क्षयोपशम वढ़ता है। उससे वुद्धि का पाटव विकसित होता है। क्षायिक भाव से समग्र आवरण का विलय हो जाता है। इसके वाद समझ मे तरतमता नही रहती।

मनुष्य क्षायिक ज्ञान पाना चाहता है, पर अधिकाश लोगो का ज्ञान क्षायोपशमिक होता है। इससे उनकी समझ ढीली-ढीली रहती है। समझ ढीली-ढीली हो तो भाषा को सुदृढ होने का अवसर कैसे मिलेगा? क्षायोपशमिक ज्ञान और आस्था निमित्तो के आधार पर वदलती रहती है। इस वदलाव का प्रभाव पूरे व्यक्तित्व पर होता है।

भावना के जहर से मौत

एक अमेरिकन महिला सिर-दर्द से पीड़ित थी। उसे प्रतिदिन दवा लेनी पडती थी। उन दिनो वह एक प्रकार के पाउडर का प्रयोग करती थी। उसकी दवा की शीशियो के साथ और भी कई शीशिया रखी रहती थी। पोइजन की भी एक शीशी वहा थी। एक दिन वह दवा लेकर रसोईघर मे गई। पीछे मे उसकी लडकी दौडती हुई आई और वोली—'मम्मी! तुमने क्या किया? महिला ने विस्मय के साथ पूछा—'क्या हुआ?' लडकी वोली—'तुमने पोइजन खा लिया।'

जहर का नाम सुनते ही महिला के भावो में जहर उतर गया। देखते-देखते जहर का प्रभाव वढ़ा और उसकी मृत्यु हो गई। डॉक्टरो ने उसका पोस्टमार्टम

किया। शरीर मे किसी प्रकार का जहर नही था। वह जो दवाइया लेती थी, उन शीशियो को देखा गया। किसी मे कोई पोइजन नही था। उसकी मौत रहस्य बन गई। बहुत छानबीन के बाद रहस्य का उद्घाटन हुआ। वह जहर से नही, वहम से मरी थी। लडकी की थोडी-सी असावधानी से वहम का जो भूत खडा हुआ, वह मा के प्राण लेकर ही शात हुआ।

निश्चय और व्यवहार दोनो का अपने-अपने स्थान पर मूल्य है। दोनो नय काम के है। साधक इसमे उलझे नही। उलझने वाला आत्मा के स्वरूप को समझ नही पाएगा। प्राथमिक भूमिकाओ पर व्यवहार नय के आधार पर आत्मा को समझना है। चिन्तन और अनुभव की परिपक्वता की स्थिति मे निश्चय नय हमारी समझ को अच्छे ढग से परिमार्जित कर सकता है। हम व्यवहार के दरवाजे से निश्चय मे प्रवेश करें और आत्मा की पहचान के लिए अपना पुरुषार्थ करते रहे। शोक तरति आत्मविद्—'आत्मा को जानने वाला सब दु खो का पार पा लेता है।' दु खमुक्ति के उद्देश्य से भी मनुष्य आत्मबोध या स्वरूपबोध की दिशा मे प्रस्थान कर सके तो उसका परिणाम बहुत सुखद आ सकता है।

३०. स्वयं को खोजना है समाधान

चीनी सन्त के पास एक जिज्ञासु युवक गया। उसने प्रश्न किया—'मैं कौन हूं?' सन्त ने उसके कपोल पर एक चांटा जड दिया। युवक डरकर वहा से भागा। वह जिज्ञासु था। शान्ति से नही बैठ सका। दूसरे सन्त के पास जाकर उसने कहा—'मैं अमुक सन्त के पास गया था। उसने मेरे प्रश्न का उत्तर नही दिया। मुझे चांटा मारकर भगा दिया।' सन्त बोला—'तुमने क्या पूछा था?' युवक ने कहा—'मेरा प्रश्न था—मैं कौन हू?' सन्त ने अपने तेवर बदलकर कहा—वे बहुत कोमल थे। चाटे से ही काम हो गया। तू मेरे पास यह प्रश्न करता तो मैं तुझे डण्डे से मारता। प्रश्न का उत्तर पाना है तो वही जा।'

युवक मन-ही-मन डर रहा था। फिर भी वह वहा गया। उसने पूछा—'मैं कौन हू?' सन्त ने कहा—'तुम कौन हो? इस प्रश्न का उत्तर कोई दूसरा कैसे देगा? स्वय खोजो और स्वय समझने की कोशिश करो कि तुम कौन हो?

यह क्या प्रश्न

आगमो मे साधक की यात्रा मैं कौन हू, यहा से शुरू नही होती। मैं क्या था, भविष्य मे मैं क्या बनूगा, ये प्रश्न हो सकते है। पर अस्तित्व मे क्या सन्देह! वहा जिज्ञासाओ का स्रोत खुलता है, वह बिन्दु है—मैं कहा से आया हूं? मैं पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन दिशाओ से आया हू? ऊची या नीची दिशा से आया हू अथवा किसी विदिशा से आया हू?

मैं कौन हूं? यह प्रश्न एक नास्तिक भी नही पूछता। कोई व्यक्ति किसी कारण से विक्षिप्त चित्त वाला हो जाता है, तब वह ऐसा प्रश्न पूछता है। सीता का अपहरण होने के बाद उसके विरह से व्याकुल श्रीराम ने लक्ष्मण से पूछा था—

> कोऽहं वत्स! स एष आर्य भगवान्, आर्य स को? राघवः,
> के यूय? वत नाथ! पूज्यपदयोर्दासोस्म्यह लक्ष्मण.॥

कान्तारे किं यास्महे ? ननु विभो ! देवी गता मृग्यते,
का देवी ? जनकाधिराजतनया हा ! जानकि ! क्वासि हा !

राम वत्स ! मैं कौन हू ?
लक्ष्मण आप आर्य भगवान हैं।
राम · यह आर्य कौन है ?
लक्ष्मण श्रीराम आर्य हैं।
राम · तुम कौन हो ?
लक्ष्मण · मैं आपका दास लक्ष्मण हू।
राम हम राम-लक्ष्मण हैं तो जगल मे क्यो घूम रहे हैं ?
लक्ष्मण देवी खो गई है। हम उसकी खोज कर रहे हैं।
राम कौन देवी खो गई ?
लक्ष्मण जनक-सुता सीता खो गई।
राम जानकी खो गई। हा ! जानकी ! तुम कहा हो ?

समाधान के तीन उपाय

'आयारो' के साधक को झकझोरने वाला दूसरा प्रश्न है—मेरी आत्मा उत्पादधर्मा है या नही ? जो उत्पादधर्मा होगा, उसका पूर्वजन्म होगा, पुनर्जन्म भी होगा। मेरा पूर्वजन्म या पुनर्जन्म है या नही ? इस प्रश्न की गहराई मे उतरकर वह सोचता है—के अह आसी ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि—मैं पिछले जन्म मे कौन था ? मैं यहा से च्युत होकर अगले जन्म मे क्या होऊगा ? ये मूलभूत प्रश्न हैं। उनके समाधान को खोजना आवश्यक है।

प्रश्न है तो उनके उत्तर भी हैं। वे उत्तर कहा से आते हैं ? सहसम्मइयाए—इन प्रश्नो का समाधान स्व सन्मति से मिल सकता है। स्व सन्मति अर्थात् अपना ज्ञान, अपनी अनुभूति। इसका एक अर्थ है—पूर्व जन्म की स्मृति। यह जाति-स्मृति ज्ञान भी अपने द्वारा अपने अतीत को जानने-पहचानने वाला ज्ञान है।

स्व सन्मति से जानने की स्थिति न हो तो दूसरा उपाय है—परवागरणेण। पर व्याकरण अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी का निरूपण। प्रत्यक्ष ज्ञानी अपने ज्ञान से सत्य का साक्षात्कार कर उसका निरूपण करते हैं। उनका निरूपण कभी गलत नही हो सकता। इसलिए वह भी समाधानकारक बनता है।

तीसरा उपाय है—'अण्णेसिं वा अतिए सोच्चा—प्रत्यक्ष ज्ञानी द्वारा श्रुत व्यक्ति के पास सुनकर जिज्ञासु यह जान लेता है कि वह किस दिशा से आया है। पर व्याकरण और अन्य व्याकरण का उपयोग तब तक ही है जब तक व्यक्ति की अपनी प्रज्ञा नही जागेगी। स्वय की प्रज्ञा का जागरण 'आयारो' को अभीष्ट है। गीता भी यही बात कहती है—'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह दृश्यते'। ज्ञान

पवित्र होता है, अपनी पहचान का उत्कृष्ट माध्यम होता है, इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान को पाने की दिशा मे प्रयास होना चाहिए।

मार का तीर

ज्ञान की उपलब्धि कैसे होती है ? श्रद्धा मे। **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**—जो श्रद्धालु होता है, वह ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धाहीन को ज्ञान नही मिलता। श्रद्धा किसके प्रति ? सबसे पहले स्वय के प्रति श्रद्धा का होना आवश्यक है। स्वयं मे श्रद्धा का अर्थ है सत्य मे श्रद्धा। '**सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मार तरइ**'—जो सत्य की आज्ञा मे उपस्थित है, वह मेधावी मार को तर जाता है।

मार शब्द के अनेक अर्थ है। मार का एक अर्थ है मृत्यु। मृत्यु को वही तर सकता है, जो सत्य के प्रति समर्पित होता है। सत्य का साधक ही श्रेय को देखता है और उसे साधता है। सत्य को पीठ देकर भागने वाला व्यक्ति दिन-रात मृत्यु के भय से सक्लिष्ट रहता है।

मार का दूसरा अर्थ है काम। कामनाओ के सागर को वही तरेगा, जिसके पास सत्य का जलपोत होगा। आचार्य भिक्षु ने 'शील की नववाड' ग्रन्थ मे एक उदाहरण दिया है—एक क्षत्रिय ससुराल मे आणा लेकर आ रहा था। मार्ग मे उसे चोर मिल गया। उसने क्षत्रिय को ढेर सारी चीजें ले जाते हुए देखा। उसके मन मे लोभ जागा। वह क्षत्रिय का धन हड़पना चाहता था। क्षत्रिय उसके मनोभाव को समझ गया। उसने धनुष चढाया और तूणीर से तीर निकालकर बरसाने शुरू किए। चोर भी दक्ष था। उसने क्षत्रिय के प्रत्येक तीर को अपने फरसे से तोड़ डाले। क्षत्रिय अपने सब तीर फेंक चुका था। उसके पास केवल एक तीर बचा। वह चिन्तित हो गया।

क्षत्रिय की पत्नी उसके पास ही घूघट मे बैठी थी। उसने पति का सहयोग करने के लिए अपने तीरो का उपयोग करने का निर्णय लिया। पति से परामर्श करने का अवकाश नही था। उसने साहस कर घूघट हटाया और कटाक्ष फेंका। चोर की दृष्टि उस नवोढा सुन्दरी पर पड़ी। वह उसके रूप मे मुग्ध हो गया। क्षत्रिय ने अवसर देख अपना अतिम तीर चला दिया। इस बार चोर ढह पड़ा। क्षत्रिय की आखो मे विजय की चमक तैर आई। चोर बोला—'क्षत्रिय ! अभिमान मत कर। मैं तेरे बाण से नही गिरा हू। मुझे मार का तीर लगा है।'

मैंने परीक्षण किया था

मार को जीतने के लिए विवेक को जगाना जरूरी है। जागृत विवेक के अभाव मे मार को जीतने के हजार प्रयत्न भी सफल नही हो सकते। विवेक का जागरण कब होता है ? इसे किसी समय की सीमा मे बाधना मुश्किल है। युवावस्था मे

विवेक जागे, जरूरी नही है। वृद्धावस्था मे विवेक जागे, यह भी जरूरी नही है। बाल्यावस्था मे विवेक जागे, यह भी जरूरी नही है। पर इसका मतलब यह नही है कि बचपन मे विवेक जागता ही नही। बचपन मे विवेक-जागरण के अनेक किस्से प्रसिद्ध हैं।

सन्त नामदेव का नाम प्रसिद्ध है। जब वे बच्चे थे, उनकी मा ने कहा—'नामू ! जाओ, एक पलाश की टहनी ले आओ।' नामू हाथ मे कुल्हाडी लेकर पलाश की टहनी लाने गया। पलाश के निकट पहुच उसने कुल्हाडी हाथ मे ली। वह टहनी पर वार करे, उससे पहले ही एक नया चिन्तन उभरा—पेड मे प्राण है, जीवन है। मैं इसकी टहनी काटूगा, क्या इसके पीडा नही होगी ? नामू के प्राणो से उठा हुआ प्रश्न लौटकर वही समा गया। वहा कोई समाधान देने वाला नही था।

नामू ने अपना हाथ घुमाया और कुल्हाडी का प्रहार अपने पैर पर किया। पीडा का अनुभव हुआ। पैर से खून बहने लगा। धोती खून से रग गई। वह टहनी नही तोड सका। कुल्हाडी हाथ मे लेकर घर लौट आया। मा ने पैर मे बहते खून को देखकर पूछा—'बेटा ! क्या हो गया ?'

नामदेव—मा ! मैंने अपने पैर पर कुल्हाडी चलाई। लगता है कोई नस खुल गई। उससे खून बह रहा है।

मा—बेटा ! तू पागल है क्या ? अपने हाथो पाव पर कुल्हाडी क्यो चलाई ?

नामदेव—मा ! मै पागल नही हू। मैंने परीक्षण किया था।

मा—किस बात का परीक्षण ?

नामदेव—मेरे शरीर मे प्राण हैं, वैसे ही पलाश के शरीर मे प्राण है। टहनी तोडने से पलाश को पीडा होगी क्या ? इसका परीक्षण किया था।

मा—अरे मूर्ख ! वृक्ष और मनुष्य की कोई तुलना होती है ?

नामदेव—मा ! जो बात मेरे प्रतिकूल है, वह औरो के भी होगी। पाव पर प्रहार करने से मुझे पीडा का अनुभव हुआ। फिर मैंने टहनी नही काटी।

मा—लगता है, बेटा ! तू कोई बडा सन्त होगा।

मा के कहे गए बोल सच हो गए। छोटा-सा बालक नामू आगे चलकर सन्त नामदेव बना। क्योकि बचपन मे ही उसका विवेक जाग गया, अन्त प्रज्ञा का जागरण हो गया। विश्वात्मा के साथ तादात्म्य जुड गया। वृक्ष की चेतना के साथ उसकी चेतना का तार जुड गया। ससार के छोटे-बडे किसी भी प्राणी की पीडा मे अपनी पीडा का अनुभव करने वाला व्यक्ति न कभी किसी को सता सकता है और न किसी का प्राण वियोजन कर सकता है।

३१. श्रुत और शील की समन्विति

मनुष्य के चरित्र की दो कसौटिया हैं—श्रुतसपन्नता और शीलसपन्नता। सरल शब्दो मे कहा जाए तो ज्ञान और आचरण। सामान्यत ऐसा कोई आदमी नही होता, जो श्रुत और शील—दोनो से शून्य हो। आशिक रूप मे इनका अस्तित्व प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे होता है। पर मात्रा कम होने से वह दिखाई नही देता। वैसे दिखाई न भी दे तो उनकी सत्ता को चुनौती नही दी जा सकती। किन्तु किसी भी तत्त्व का प्रतिपादन होता है, वह मुख्यता और गौणता के आधार पर होता है। जहा श्रुत और शील गौण रूप मे प्रभावी होते है, वहा जीवन की गाडी सही दिशा में आगे नही वढती।

दोनो की युति मे पूर्णता

जीवन मे श्रुत का मूल्य अधिक है या शील का? यह प्रश्न ध्वनित करता है कि श्रुत और शील को ऊपर-नीचे का दर्जा दिया जा सकता हे। मेरा अभिमत यह है कि कोरा श्रुत और कोरा शील लक्ष्य-सिद्धि मे सहायक नही वन सकता। भगवान ने केवल श्रुत-सम्पन्न या केवल शील-सम्पन्न व्यक्तियो को मोक्षमार्ग का देश आराधक वताया है। पूर्ण आराधक वे होते है, जो श्रुत और शील—दोनो से सम्पन्न हो। जिनमे न श्रुत होता है और न शील, वे मोक्ष मार्ग के पूर्णत विराधक होते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि खण्ड-खण्ड चेतना मे पूर्णता नही होती। पूर्णता के विन्दु तक पहुचने के लिए दोनों की युति अपेक्षित है।

अणुव्रत और महाव्रत का ज्ञानपूर्वक स्वीकार पूर्णता की दिशा मे उठाए गए कदमो की सूचना है। महाव्रती साधु वनने मात्र से श्रुत और शील की अखण्ड आराधना हो रही है, ऐसा मानना भी भ्रातिपूर्ण दृष्टिकोण है। उनका पुरुषार्थ सही दिशा मे है। उन्होंने अखण्डता के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। उसके

अतिम विन्दु तक पहुचने मे जितना समय और श्रम लगाना आवश्यक है, उनमे कम से कम उतना विनियोजन होने से ही सफलता मिल सकती है।

चोरी के लिए भी वुद्धि जरूरी

कुछ लोगो का अभिमत है कि जीवन को ऊचा उठाने के लिए आचरण की उच्चता आवश्यक है। उसके साथ ज्ञान की क्या अपेक्षा है? ज्ञान का उपयोग हर प्रवृत्ति के साथ है। चोरी जैसी अवाछनीय प्रवृत्ति भी ज्ञान के विना नही होती। वुद्धि के सहारे ही चोर खतरो से वचकर अपने गन्तव्य तक पहुचता है और सुरक्षित लौट आता है। कहा जाता है—

विना कठ को गावणो, विना अकल को चोर।
विना कन्त की कामणी, तीनू लापालोर॥

दो चोर चोरी करने गए। घूमते-घूमते वे एक वुढिया के घर मे घुसे। वुढिया खर्राटे भर रही थी। चोरो ने इधर-उधर देखा। उनको कुछ नही मिला। वे रसोईघर मे घुसे। वहा आटा चीनी, घी पानी आदि सामान पडा था। चोरो को गहरी भूख लग चुकी थी। वे चोरी की वात छोड वहा हलुवा वनाने वैठ गए। हलुवा वनकर तैयार हो गया। दोनो चोर हलुवा खाने वैठे। उनके पास ही खटिया पर वुढिया सो रही थी। उसका एक हाथ खुला था और चोरो की ओर फैला हुआ था। उसे देख एक चोर ने कहा—'वेचारी वुढिया हाथ पसारकर हलुवा माग रही है। थोडा-सा हलुवा इसे भी देना चाहिए।' दूसरा चोर अपने साथी की वात मे सहमत हो गया। उन्होने एक कटोरी मे गरम-गरम हलुवा भरा और गहरी नीद मे सोई वुढिया के हाथ मे डाल दिया। वुढिया के हाथ जले। वह नीद मे ही चीखने लगी।

वुढिया की चीख सुन दोनो चोर घवराए। वे उठे। एक चोर वुढिया की खटिया के नीचे घुस गया। वुढिया के हाथ मे हलुवा डालने वाला टान पर चढकर वैठ गया। दोनो चोर सास रोके आगे की कार्यवाही के प्रति सचेत हो गए। उधर वुढिया की चीख ने उसके पडोसियो का ध्यान खीचा। वे दौडकर आए। वुढिया तव तक उठकर वैठ गई और अपनी हथेली मे पडे हलुवे को देखने लगी।

पडोसी आए। उन्होने पूछा—'वूढी मा। क्या हुआ?' वह वोली—'मै कुछ नही जानती, ऊपर वाला जाने।' वुढिया ने दो-तीन वार यह वाक्य दोहराया तो ऊपर वैठा चोर झल्ला उठा। उसने मन-ही-मन सोचा—'मैने ही इसको हलुवा खिलवाया और यह मुझ ही मरवाना चाहती है। मरू तो भी अकेला क्यो मरू? मेरा साथी भी तो यही है।' मन के सकल्प-विकल्पो मे उलझा हुआ वह अचानक वोल उठा—'ऊपर वाला क्या अकेला जानता है, नीचे वाला भी तो जानता है।'

वुढिया के पडोसियो का ध्यान ऊपर और नीचे गया। वहा दोनो चोर छिपकर वैठे थे। वे पकड़े गए। कैसे मूर्ख थे वे दोनो ? न उन्होने चोरी की, न हलुवा खाया और न भागे। ठीक ही तो कहा गया है कि अक्ल के विना चोरी नही हो सकती।

अध्ययन से भी अधिक मूल्य है मनन का

कुछ लोगो के पास वुद्धि होती है, पर वे उसका सही उपयोग करना नहीं जानते। ऐसे लोग पढ़े-लिखे होते हैं पर मनन करने की क्षमता उनमे नही होती। एक इन्जीनियर अपने पूरे परिवार के साथ वैलगाडी से यात्रा पर निकला। वीच मे नदी आ गई। नदी मे कही गहरा और कही उथला पानी वह रहा था। गाडीवान ने गाडी रोक दी। इन्जीनियर नीचे उतरकर वोला—'कोई व्यक्ति घवराए नही। मैं अभी पूरी व्यवस्था कर सूचना देता हू।'

इन्जीनियर ने एक छड़ी हाथ मे ली और नदी के किनारे तथा वीच के भाग मे पानी का माप किया। कही चार अगुल पानी था, कही दस अगुल पानी और कही एक वालिश्त। इन्जीनियर ने चारो ओर से पानी का माप कर औसत निकाला और सवका हौसला वढ़ाते हुए कहा—'कुल मिलाकर चार-छह अगुल से अधिक पानी नही है। गाडी आराम से चल सकेगी।

इन्जीनियर के कहने से गाडीवान ने नदी मे गाडी उतार दी। थोडी-सी दूर चलने के वाद वह गहरे पानी मे डूबने लगी। वाल-वच्चे चिलाए। गाडीवान वोला—'मैंने पहले ही कह दिया था कि पानी अधिक है, गाडी नही चल पाएगी।' इन्जीनियर यह सुन गहरी सोच मे खो गया। उसने कहा—'मैं अपने कागजात देखकर वताता हू कि गलती कहा रही ?' उसने एक वार सव कागजातो को उलट-पलट कर देखा। सव कुछ ठीक था। पर गाडी डूवती जा रही थी। उसने नि श्वास छोडते हुए कहा—

लेखा-जोखा ज्यो का त्यो,
कुनवा डूवा तो क्यों ?

पढा-लिखा इन्जीनियर अनुपात निकालना जानता था, किन्तु यह नही जानता था कि गाड़ी को वचाने के लिए अनुपात निकालने की नही, अधिक पानी वाले स्थान को टालने की अपेक्षा होती है। इसी दृष्टि से यह कहावत प्रचलित हो गई—भण्यो है पर गुण्यो कोनी। अध्ययन, मनन और क्रियान्वयन—इन तीनो की युति होने से ही मनुष्य सामने आए सकट से अपना वचाव कर सकता है।

जव वाड़ खेत खाने लगी

हमारी सस्कृति के सरक्षक होते है तपस्वी सन्त। वे शीलसम्पन्न होते ही हैं,

अगाध ज्ञान के स्रोत भी होते हैं। वे स्वय समाधि मे रहते है और न जाने कितने लोगो को समाधान देते हैं। राजा सौदास का कथानक इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

अयोध्या नगरी मे राजा सौदास राज्य करता था। वहा की सास्कृतिक परम्परा के अनुसार पर्युपण पर्व के आठ दिनो मे शिकार और मामाहार निपिद्ध था। राजा सौदास ने उस परम्परा का निर्वाह करते,हुए। 'अमारि पडह'—किसी प्राणी को नही मारने की घोपणा करवा दी। इस घोपणा के बावजूद राजधानी के पार्श्ववर्ती जगलो मे जानवरो की शिकार होती रही। महामात्य को सूचना मिली। उन्होने छानवीन की। ज्ञात हुआ कि राजा सौदास के भोजन मे मास पकता है। महामात्य राजा के पास जाकर बोला—'महाराज! अष्टाह्निक महोत्सव मे मासाहार वर्जित है। पर आप इस निपेधाज्ञा का अतिक्रमण कर रहे हैं।' वाड स्वय खेत को खाने लगेगी तो उसकी सुरक्षा कौन करेगा?

आदत की लाचारी

महामात्य की वात सुन राजा की आखें झुक गई। उसने अपनी भूल स्वीकार की और महामात्य को विश्वास दिलाया कि भविष्य मे ऐसी गलती नही होगी। महामात्य निश्चिन्त हो गया। व्यवस्था वनाए रखने के लिए शहर मे और वाहर सशस्त्र पुलिस की नियुक्ति कर दी गई। पशुओ का शिकार वन्द हो गया। राजा को भोजन मे शाकाहार परोसा गया। राजा ने भोजन किया पर मन अनुरजित नही हुआ। उसने रसोइए को वुलाकर कहा—'यह सादा भोजन नही चलेगा। भोजन मे मास की व्यवस्था होनी चाहिए।' रसोइया वोला—'महाराज! मैं क्या कर सकता हू। मत्री ने सशस्त्र प्रहरी नियुक्त कर दिए।' राजा ने कहा—'तू जो मागेगा, मिलेगा। जैसे-तैसे मास की व्यवस्था कर।'

रसोइया शहर से वाहर गया। किन्तु किसी पशु का शिकार करने मे सफल नही हो सका। लौटते समय उसने गडा हुआ मृत वालक खोदकर निकाला और उसका मास तल-भूजकर राजा की थाली मे परोसा। राजा को उस दिन भोजन वहुत रुचिकर लगा। राजा ने रसोइए से पूछा—'तुझे ऐसा वढिया मास कहा मिला।' रसोइए ने सारी वात वता दी। राजा वोला—'मनुष्य का मास इतना मधुर होता है, यह अनुभव आज पहली वार हुआ है। अव से तुम ऐसा ही मास लाओगे।'

प्रतिदिन मृत वालक कहा से मिले? रसोइया लोभ मे आकर एक-एक वालक का अपहरण करने लगा। शहर मे आतक फैल गया। महामात्य के पास शिकायतो पर शिकायतें आने लगी। उसने स्थिति को सभालने के लिए राजा के प्रति वगावत कर दी। उस रात जव राजा और रानी दोनो मासाहार कर मद्यपान के

वाद सो गए, मदिरा के नशे मे वेभान हो गए, तव उनका पलंग उठवाकर उनको राज्य की सीमा से वाहर जगल मे ले जाकर छोड़ दिया।

डूवती नाव किनारे लगी

प्रात नशे का प्रभाव क्षीण हुआ। राजा उठकर वैठा। घोर जगल मे अपने आपको देख उसे स्थिति का अन्दाज लग गया। रानी भी सव कुछ समझ चुकी थी। वे अपने भविष्य की चिन्ता मे उलझ रहे थे। उसी समय उनको कुछ दूरी पर ध्यानस्थ खडे मुनि दिखाई दिए। वे उनके पास गए और वोले—

तारो गुरुदेव ! तारो दया दृष्टि देख तारो।
डूवती नैया ने अवै दिखाद्यो किनारो॥

करुणा और श्रद्धा से सने राजा के वोल सुन मुनि ने ध्यान खोला। राजा ने अपनी रामकहानी उनको सुनाई। मुनि ने दुव्यर्सन छोडने की प्रेरणा दी। राजा का अन्त करण वदला। उसने जीवन भर के लिए सव व्यसनो का परित्याग कर दिया। राजा के जीवन की नौका मझधार मे डूव रही थी। मुनि का सहारा पाकर वह किनारे लग गई।

मुनि की प्रेरणा से व्यस्त-मुक्त होकर राजा समीपवर्ती महापुर प्रदेश मे गया। भाग्य वदला। सौदास वहा का राजा वन गया। उसने अयोध्या पर आक्रमण कर उसको भी जीत लिया। इस विजय के वाद उसने अयोध्या और महापुर—दोनो राज्य पुत्र को सौंपकर मुनि-दीक्षा स्वीकार कर ली।

यह घटना जितनी प्रेरक है, उतनी ही रोमाचक है। इसमे श्रुत और शील-सपन्न तपस्वी एव ध्यानी सतो की शरण स्वीकार करने से होने वाले सुफल का दिग्दर्शन है। अनेकात की मूल्यवत्ता को प्रतिष्ठित करने वाला जैनदर्शन केवल श्रुत या केवल शील के आधार पर चलने वाली जीवनशैली को महत्त्व नहीं दे सकता। जैनदर्शन में जिनकी आस्था है, वे श्रुत और शील—दोनो की सम्यक् आराधना कर मोक्ष मार्ग के पूर्ण आराधक वने, यह अपेक्षित है।

३२. असार संसार में सार क्या है ?

ससार असार है, यह एक शाश्वत स्वर है। अतीत मे अपने बुजुर्गो से यह स्वर सुना। वर्तमान मे इस स्वर को सुना जा सकता है। भविष्य मे आने वाली पीढी के होठो पर भी यह स्वर मुखर होगा। ससार की असारता के प्रसग हमारे चारो ओर घटित होते रहते है। प्रश्न यह नही है कि ससार क्यो है ? जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसके सम्बन्ध मे जिज्ञासा नही होती। प्रश्न यह है कि इस असार ससार मे कुछ सार है या नही ?

असार-सार की चर्चा मे साधारण ससारी प्राणी कुछ कहे, उसे मानने का कोई औचित्य नही होता। क्योकि जो व्यक्ति असार-सार को समझता ही नही, वह उसकी मीमासा कैसे करेगा ? सार-असार की समीक्षा का अधिकार उनको है, जिन्होंने इनको समझा है, असार को छोडा है और सार को स्वीकार किया है। वे व्यक्ति हैं अर्हत्। उन्होने कहा—सच्च लोयंमि सारभूय। इस ससार मे कोई सारभूत तत्त्व है तो वह है सत्य। सत्य को भी झुठलाने का प्रयास होता है, पर सत्य आखिर सत्य रहता है। झूठ का परदा हटता है और सत्य उजागर हो जाता है।

सच्च भयव

सत्य भगवान है, सत्य लोक मे सारभूत है, सत्य की आज्ञा मे उपस्थित मेधावी मृत्यु को जीत लेता है, सत्य की सदा विजय होती है आदि सुभाषितो को पढ, सुनकर सहज ही सत्य के प्रति आस्था प्रगाढ हो जाती है। सत्य के प्रति आस्था का अर्थ है अपने प्रति आस्था, जगत के अस्तित्व के प्रति आस्था, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मे आस्था, कर्म और उसके फल मे आस्था तथा मोक्ष और उसके साधनो मे आस्था। सत्य के सम्बन्ध मे लिखे हुए पद्यो मे से यहा कुछ पद्य उद्धृत किए जा रहे है—.

सत्य से वढ़कर जगत में कौन सत्पथ और है।
और सव पगडंडिया, यह राजपथ की डोर है॥
सत्य ही है सार वस निस्सार इस ससार में,
क्यों न अपनाते इसे जीवन के कारोवार में,
फल मधुर पर साधना 'तुलसी' तपस्या घोर है॥
सत्य है भगवान, श्री भगवान भी फरमा रहे,
सत्य के गुणगान श्री भगवान श्रीमुख गा रहे,
आगमो मे सत्य की महिमा वडी पुरजोर है॥

गलती से नही, वेइज्जती से भय

प्रश्न है कि सत्य इतना महिमामडित तत्त्व है, तो फिर दैनदिन जीवन व्यवहार मे इसका आचरण क्यो नही होता ? सत्य का गुणगान करने मात्र से सत्य की प्रतिष्ठा नही होती। समय पर वडे-वड़े साधक भी सत्य से विचलित हो जाते है। क्यो ? क्या सत्य के प्रति उनकी आस्था केवल शाब्दिक है ?

मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह जितना वोलता है, उतना करता नही। सत्य को स्वीकार करने मे जिस कठिनाई का अनुभव किया जाता है, वह कठिनाई कन है और सुविधाभोगी मनोवृत्ति अधिक है। व्यवसाय के क्षेत्र मे काम करने वाले अधिसंख्य लोग यह मानने लगे है कि सत्य के आधार पर व्यापार नही चल सकता। उनकी आकाक्षाए इतनी विस्तृत है कि सत्य के वल पर उन्हे भरा नही जा सकता। दूसरी वात—सव लोग असत्य के आधार पर ऊपर चढ़ रहे है तो अकेला मैं ही क्यो पीछे रहू, यह मनोभाव व्यक्ति को असत्य की दिशा मे ढकेल देता है।

साधना के क्षेत्र मे सत्य से विचलित होने का प्रसग वहा आता है, जहां साधक झूठे मानदडो मे उलझ जाता है। वह सोचता है—मैंने गलती की अथवा किसी कारणवश गलती हो गई। यदि मैं गलती स्वीकार कर लूगा तो समूह के सामने मेरी वेइज्जती हो जाएगी। कितनी विचित्र वात है ! व्यक्ति गलती करने से नही डरता, उसके कारण होने वाले अपवाद से डरता है । वुराई से नही डरता, पर उसके परिणाम से वचना चाहता है। यह विसगति है।

सत्य के आचरण से इज्जत वढती है

साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करने वाला सत्य का सकल्प करके ही अपने कदम आगे वढाता है। साधक सिद्ध नही होता। वह गलती कर सकता है, यह एक तथ्य है। इस तथ्य को झुठलाते हैं वे लोग, जो यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि वे कभी गलती नही करते। वेइज्जती का जहां तक प्रश्न है, कोई प्रशासक किसी व्यक्ति

की इज्जत क्यो लेगा ? सहजभाव से सत्य को स्वीकार कर लिया जाए तो वात वढाने की सभावना ही समाप्त हो जाती है। वात वही वढती है, जहा सत्य के साथ आखमिचौली की जाती है।

दूसरी वात—सत्यनिष्ठा से और सत्य के आचरण से व्यक्ति की इज्जत वढती है। गलती करने वाला व्यक्ति पूरी ईमानदारी के साथ उसे स्वीकार कर लेता है तो उसके प्रति विश्वास जमता है। चिन्तन की वात यह है कि गलती को स्वीकार करने का फलित है नि शल्य वनना। गलती को सफलतापूर्वक छिपाने वाला व्यक्ति भी उसके शल्य से मुक्त नही हो सकता। जव तक भीतर शल्य खटकता है, उसका मन शात नही हो सकता। आन्तरिक पीडा को छिपाने के लिए ऊपर-ऊपर से मुस्कान विखेरने जैसा ही कुछ अनुभव होता है उनको, जो वेइज्जती होने के भय से जानते हुए भी अपनी गलती को अस्वीकार कर देते हैं। जवकि सचाई यह है कि व्यक्ति की इज्जत तो उसी क्षण कम हो जाती है, जव वह गलती करता है।

सत्य की तपस्या कठिन है

सव लोगो मे सत्य का आचरण करने की क्षमता नही होती। पर एक सीमा तक तो सभी लोग सत्य को स्वीकार कर सकते है। इस शक्यता के आधार पर ही भगवान ने सत्य को दो भागो मे विभक्त कर दिया—सत्य महाव्रत और सत्य अणुव्रत।

महाव्रत सपूर्णता का सूचक है। जिनको अपनी क्षमता पर भरोसा हो, जो कठिन-से-कठिन परिस्थिति को झेलने के लिए तैयार हो, वह व्यक्ति सत्य का महाव्रत स्वीकार करता है। भूखा रहना कठिन है। पर व्यक्ति दो-चार महीनो तक भूखा रह सकता है। अविकल सत्य की तपस्या इससे भी अधिक कठिन है। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे सत्य की स्तुति करते हुए कहा गया है—

> अणेगपासडपरिगहिय ज त लोयम्मि सारभूय।
> गभीरतर महासमुद्दाओ, थिरतरग मेरुपव्वयाओ॥
> सोमतर चदमडलाओ दित्ततर सूरमडलाओ।
> विमलयर सरयनहदलाओ, सुरभितर गधमादणाओ॥

सत्य अनेक पाषडो—सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत है, लोक मे सारभूत है, महासमुद्र से अधिक गम्भीर है, मेरुपर्वत से अधिक स्थिर है, चन्द्रमा से अधिक सौम्य है, सूर्य से अधिक दीप्तिमान है, शरद ऋतु के नभस्तल से अधिक निर्मल है और गधमादन पर्वत से अधिक सुगधित है।

इस आगम मे सत्य की जितनी महिमा गाई गई है, उसे पढने वाला या सुनने वाला सहज रूप से सत्यनिष्ठ हो सकता है। सत्य का फल मधुर होता है। पर

मधुरता का परिपाक होने तक तपस्या भी आवश्यक है। तप तपे विना, कष्ट सहे विना सत्य का फल नही मिल पाता। जो लोग पूर्ण सत्य की आराधना नही कर सकते, वे भी अपनी क्षमता के अनुसार सत्य अणुव्रत को स्वीकार कर सामाजिक और-धार्मिक—दोनो क्षेत्रो मे विशेष प्रतिष्ठा का अर्जन कर सकते हैं।

राजा माने सो रानी

कुछ लोगो का अभिमत है कि सत्य वोलने वाला सवका अप्रिय हो जाता है। यद्यपि सत्य की अभिव्यक्ति प्रियता से भी हो सकती है, पर प्रिय वने रहने के लिए सत्य की उपेक्षा क्षम्य नही हो सकती। सत्यवादी के सामने कभी-कभी ऐसे प्रसंग आ सकते हैं। पर सत्य, आखिर सत्य है। उसके लिए कभी अप्रिय वनने या सहने की तैयारी भी रखनी चाहिए। इस संदर्भ मे पूज्य कालूगणी एक कहानी सुनाया करते थे—

राजा जंगल मे गया। वहा एक छोटी जाति की लडकी वेर तोड रही थी। उसका नाम था कंख। राजा उस पर मुग्ध हो गया। अपने अन्त.पुर मे रखने के लिए राजा ने उसको माथ ले लिया। वहा एक और व्यक्ति कुछ काम कर रहा था। राजा ने उसको भी अपने साथ चलने के लिए कहा। वह साथ चलने के लिए तैयार हो गया किन्तु एक शर्त पर। उसने कहा—'मैं चापलूसी नही कर सकता और झूठ-फरेव को सहन नही कर सकता।' राजा बोला—'मुझे ऐसे ही व्यक्ति की जरूरत है।'

राज प्रासाद मे पहुंचकर राजा ने कख के लिए कुछ दासिया नियुक्त कर दी। उसे नहला-धुलाकर राजकीय शृंगार के वाद राजा के सामने उपस्थित किया गया। जंगल का अल्हड सौन्दर्य शृंगार से निखर गया। राजा ने उसका नाम बदलकर रत्नवती कर दिया। इसके साथ ही यह घोपणा कर दी कि यदि कोई व्यक्ति इसे कख नाम से सवोधित करेगा, उसे वनवास मिलेगा।

राजा के अन्त पुर मे राजघरानो से आई अनेक रानिया थी। पर 'राजा माने सो रानी और भरें सव पानी'—इस कहावत के अनुसार रत्नावती का सितारा चमक उठा। वह पूरे ठाट-वाट के साथ रहने लगी। उसने अपने जगलीपन को छिपाने का काफी प्रयत्न किया।

सत्यवादी असत्य को नही सहता

एक दिन की वात है। कोई वनवासी वेर की टोकरी भर राजा के लिए उपहार लाया। उस समय रत्नावती राजा के पास ही वैठी थी। वेर तोडते-तोडते उसने अपनी उम्र का डेढ़ दशक विता दिया था। फिर भी वह अनजान-सी वनकर वोली—ये किस वृक्ष के फल है। इन्हे क्या कहते हैं?

राजा इस नयी रानी के साथ जगल से जिस व्यक्ति को लेकर आया था, वह वही खडा था । उसे रानी के ये नखरे अथवा सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति पसद नही आई। वह बोला—

काले वोरिया वीणती, नाम न जाणे कख।
पुनरपि वनवासो भलो, न सहू एह अणख ।।

राजन् ! आपको याद नही, आप इस कख को कहा से लाए थे ? यह कल तक स्वय वेर तोडती थी और आज इनसे अनजान बन रही है । मैं जानता हू कि मेरी इस वाचालता के लिए आप मुझे जगल मे भेज देंगे। भेज दें, मेरे लिए वनवासी जीवन श्रेयस्कर है, पर मैं इस झूठ को सहन नहीं कर सकता ।

सत्यनिष्ठ और सत्यवादी व्यक्ति असत्य को सहन नहीं कर सकता, यह एक सचाई है, तो यह भी सचाई है कि वह अप्रिय बन सकता है औरअपने लिए कठिनाई मोल ले सकता है पर सत्यवादिता का जो मूल्य है, उसके सामने अन्य बातें नगण्य-सी रह जाती हैं ।

३३. ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के प्रयोग

एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति—सत्य एक ही है। उसका प्रतिपादन अनेक प्रकारो से होता है। एकं ब्रह्म, द्वितीयं नास्ति—ब्रह्माद्वैतवादियो का यह अभिमत किसी अपेक्षा से सही है। तत्त्व निरूमण की दो शैलिया हैं—सक्षिप्त और विस्तृत। सक्षिप्त शैली मे विस्तार को समेटा जाता है और विस्तृत शैली में प्रतिपाद्य विषय के एक-एक पक्ष को मुक्त रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। सक्षेप और विस्तार के अन्तर से किसी भी तत्त्व का महत्त्व कम या अधिक नही हो जाता।

जैन मुनि पाच महाव्रतो का पालन करता है। जैन श्रावक के लिए पाच अणुव्रत वताए गए है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच साधना के अग है। सक्षेप करें तो एक मे सवका समावेश सभव है। सबसे पहला तत्त्व है अहिंसा। एके साधे सव सधे—इस नीति वाक्य के अनुसार अहिंसक व्यक्ति असत्य-संभाषण नही कर सकता। क्योंकि असत्य वोलना हिंसा है, चोरी करना हिंसा है, अब्रह्मचर्य का सेवन हिंसा है और परिग्रह हिंसा है। ये पाचो इतने जुड़े हुए है कि एक के साथ दूसरे को होना ही पडता है।

अप्रमाद और अनासक्ति

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो पाच महाव्रतो मे मुख्य महाव्रत दो हैं—अप्रमाद और और अनासक्ति। प्रमाद हिंसा है, आसक्ति परिग्रह है। असत्य, चोरी और अब्रह्मचर्य के पीछे प्रेरक तत्त्व कौन है ? ये काम व्यक्ति प्रमाद के अधीन होकर करता है अथवा आसक्ति से प्रेरित होकर करता है। किस समय किस व्रत को प्रतिष्ठित किया जाता है, यह देश और कालजनित परिस्थितियो पर निर्भर करता है।

भगवान पार्श्व चतुर्याम धर्म के प्रवर्तक थे। उनके साधु-साध्विया अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह—इन चार यमो का पालन करते थे। समय वदला, परिस्थितिया वदली। मनुष्य की वुद्धि मे जड़ता के साथ वक्रता भी घुल गई। वह

अपने बचाव के लिए नये-नये रास्ते निकालने लगा। भगवान महावीर ने इस नयी प्रवृत्ति पर अकुश लगाने का औचित्य समझा। उन्होंने सबमे पहले पाच महाव्रतात्मक धर्म की व्याख्या की। भगवान पार्श्व ने स्त्री को परिग्रह मे परिगणित कर चार यम बताए। भगवान् महावीर ने स्त्री अर्थात् वासना से बचाव करने के लिए स्वतत्र रूप से ब्रह्मचर्य महाव्रत की स्थापना कर दी। ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि भगवान पार्श्व और भगवान महावीर ने साधु-सस्था के लिए अलग-अलग प्रकार की साधना बताई। किन्तु सूक्ष्मता मे समीक्षा की जाए तो दोनो के सिद्धान्तो मे कोई अन्तर नही था।

व्रत-विस्तार का हेतु

भगवान महावीर ने व्रतो मे विस्तार किया, वह किसी सभावना के आधार पर नही किया। वे सर्वज्ञ थे, ज्ञाता-द्रष्टा थे। वे जानते थे कि बहुत सरल और बहुत कुटिल लोग रास्ता निकाल लेते है। कैसे निकलते है रास्ते ?

पाच महाव्रतो का एक अहिंसा मे समावेश हो जाने की स्थिति मे सरल या कुटिल व्यक्ति कह सकता है—हमने हिंसा का त्याग किया, झूठ बोलने का त्याग कहा है ? साधु के लिए नटो का नाटक देखना निषिद्ध है, नटिनियो का नाटक देखने का निषेध कहा है ? इस सन्दर्भ मे एक कथानक मिलता है—

गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य भिक्षा के लिए गया। भिक्षा मे उसे बडे मिले। शिष्य ने सोचा—हम शिष्य-गुरु दो है। इन बडो मे आधे बडे मेरे हिस्से मे आएगे और आधे गुरु के। मैं अपने बडे ठडे क्यो होने दू ? इन्हे यही खा लू तो क्या आपत्ति है ? सोच की क्रियान्विति हुई। उसने आधे बडे खा लिये। सोच का दूसरा क्रम शुरु हुआ—गुरु को मेरे द्वारा बडे खा लिये जाने की जानकारी नहीं है। वे मुझे इनमे से आधे अवश्य देंगे। उन्हे अभी खा लेना चाहिए। इस प्रकार सोचते-सोचते उसने एक को छोडकर शेष सभी बडे खा लिये।

एक बडा लेकर वह गुरु के पास गया। गुरु ने पूछा—एक ही बडा कैसे लाया ? शिष्य बोला—'गुरुजी ! बडे तो बत्तीस थे।' गुरु का अगला प्रश्न था—'उनका क्या हुआ ? वे कहा गए ?' शिष्य ने सरलता से कहा—'इनमे से अपने हिस्से के मैंने खा लिये।' गुरु ने पूछा—'ऐसे कैसे खा लिए।' शिष्य ने शेष बचा एक बडा मुह मे रखते हुए कहा—'ऐसे खा लिये।' गुरु बेचारे क्या करते। इस प्रकार के मूर्ख व्यक्ति को शिष्य बनाने का अनुताप उन्हे बराबर कचोटता रहा। ऐसी घटना सरलता और वक्रता—दोनो परिस्थितियो मे घटित हो सकती है।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के उपाय

भगवान महावीर अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतो के साथ ब्रह्मचर्य को स्वतत्र महाव्रत

का स्थान दिया। उन्होंने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए दस उपाय बताए। हमने उन उपायो को शैक्ष साधु-साध्वियो को सिखाने के लिए आचारबोध नामक छोटी-सी कृति मे गूंथ दिया—

स्थान विजन हो, कामकथा-वर्जन आसन का संयम हो,
आंखो का कानों का संयम स्मृति का सयम सक्षम हो,
सरस और अतिमात्र अशन न करे न विभूपाभाव भजे,
बने न विषयासक्त व्यक्त दस विध विधान से शील सझे ॥

इन उपायों के प्रति सावधान रहने पर भी कदाचित् प्रमादवश या नियति के योग से साधक का मन चंचल हो जाए, वह वासना से विवश हो जाए तो उसे संभलने के लिए 'आयारो' मे एक पूरी प्रक्रिया दी गई है। जागरूक साधक उसके अनुसार अपनी वृत्तियों को मोड़ देकर पुन. संयम की साधना मे स्थिर हो जाता है।

वासना-विजय के प्रयोग

वासना को शान्त करने का पहला उपाय है—**अवि णिव्बलासए**—साधक निर्बल भोजन करे। बलवर्धक भोजन करने से शरीर सबल बनता है। सबल शरीर मे मोह को प्रबल होने का अवसर मिलता है। शक्तिहीन भोजन करने से शरीर की शक्ति घटती है। शारीरिक क्षमता के अभाव मे मोह का प्रभाव भी कम होता है। इस दृष्टि से निर्बल या असार भोजन करने का निर्देश दिया गया है।

दूसरा उपाय है—**अवि ओमोयरियं कुज्जा**—अवमौदर्य का अर्थ है कम खाना। ब्रह्मचारी के लिए सरस और अतिमात्रा वाला भोजन वर्जित है। क्योकि अधिक खाने से वासना को उत्तेजना मिलती है। कम खाने से वासना शान्त होती है।

तीसरा उपाय है—**अवि उड्ढ ठाणं ठाएज्जा**—ऊर्ध्वगमन कर कायोत्सर्ग करने से वासना का शमन होता है। ऊर्ध्वगमन एक विशेप प्रकार की मुद्रा है। इसमे घुटनों को ऊपर रखा जाता है और सिर को नीचे रखा जाता है। एक प्रकार से यह मुद्रा सर्वांगासन और शीर्पासन की प्रतीक है।

चौथा उपाय है—**अवि गामाणुगाम दूइज्जेज्जा**। एक गाव से दूसरे गांव मे विहार करते रहना श्रमशीलता या कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास है। श्रमविमुख व्यक्ति सुविधाभोगी होता है। सुख-सुविधा के अनियन्त्रित भोग से वासना उभरती है। उसे नियन्त्रित करने के लिए ग्रामानुग्राम विहार का उपाय निर्दशित किया गया है।

पाचवा उपाय है—**अवि आहारं वोच्छिंदेज्जा**। आहार का परित्याग अनशन कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है—सावधिक और यावत्कथिक। सावधिक

अनशन मे उपवास से लेकर छह मास तक की तपस्या का समावेश है। यावत्कथिक अनशन जीवन भर के लिए है। इस प्रयोग से भी वासना का शमन होता है।

छठा उपाय है—अविचए इत्थीसु मण। वासना के निमित्तो मे मन को हटाना। इसके लिए सकल्पशक्ति को दृढ करने की अपेक्षा है। जब तक सकल्प पुष्ट नही होता, मन को किसी वस्तु या विचार से हटाया नही जा सकता।

उपर्युक्त छह उपाय वासना को नियन्त्रित करने या उसे जीतने के लिए बताए गए है। पर यह आवश्यक नही है कि सब व्यक्ति सब उपायो को काम मे लें। इन उपायो मे विजय की सभावनाए निहित है। जिस व्यक्ति के लिए जो उपाय सहज सुविधाजनक हो, उसी का सहारा लिया जा सकता है। एक साथ कई उपायो को काम मे लेने मे भी कोई बाधा नही है। बाधा है अविवेक की। विवेकपूर्वक सोचना और आगमो मे निरूपित उपायो को काम मे लेना अपाय-परिहार का सीधा रास्ता है।

३४. युद्ध का अवसर दुर्लभ है

यह ससार विसगतियो का घर है। इसमे पग-पग पर विसगति का दर्शन होता है। समाजनीति और राजनीति मे विसगति की वात समझ मे आती है। धार्मिक व्यक्ति भी जव तक ज्ञानी नही वन जाते, विसगत वात कर सकते हैं। पर वीतराग या तीर्थंकर की वाणी मे विसगति की प्रतीति हो तो आश्चर्य हुए विना नही रहता।

एक ओर वीतराग कहते है—'विंगिच कोह अविकपमाणे'—अप्रकपित रहकर क्रोध का विवेक करो। 'से वता कोह च माण च माय च लोभ च'—क्रोध, मान, माया और लोभ को छोडो। 'तम्हातिविज्जो णो पडिसजलिज्जासि'—हे त्रिविद्य पुरुष ! तुम विषय और कषाय की आग से प्रज्वलित मत वनो। उपर्युक्त सूक्त साधक को प्रेरित करते है कि वह कषाय से वचे, कलह से वचे। 'कलह कलुष की खान' तथा 'कलह कदै आछो नही, लडतां लिछमी न्हासै' आदि कहावतें शान्ति के साथ जीने की प्रेरणा देती हैं।

दूसरी ओर वीतराग पुरुषो की वाणी व्यक्ति को युद्ध क्षेत्र मे उतरने का आह्वान करती है। 'जुद्धारिहं खलु दुल्लहं'—युद्ध का अवसर दुर्लभ है। व्यक्ति को अपने जीवन मे अनेक प्रकार के अवसर मिल सकते हैं, पर अपनी शक्ति का परीक्षण या उपयोग करने का अवसर वडी मुश्किल से मिलता है। यह अवसर है युद्ध का। कही से भी युद्ध का निमत्रण मिलता है तो लडो, पूरी शक्ति के साथ युद्ध करो। ऐसा अवसर फिर कभी मिले या नही। प्राप्त अवसर को खोना कायरता है। अपने मनोवल को वढाओ और पूरे मन से युद्ध की तैयारी करो।

समन्वय से मिलता है समाधान

गाव मे हाथी आया। सात अन्धे व्यक्ति उसे देखने गए। आखो से वे उसे देख नही सकते थे। उन्होने स्पर्शन इन्द्रिय को अपने ज्ञान का माध्यम वनाया। उन्होंने अलग-अलग स्थानो से हाथी केशरीर का स्पर्श किया और अपनी-अपनी कल्पना

के आधार पर उसके आकार का निर्धारण किया। हाथी देखने के बाद उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्ति की—

पहला व्यक्ति हाथी खभे जैसा है।
दूसरा व्यक्ति हाथी बास जैसा है।
तीसरा व्यक्ति हाथी छत जैसा है।
चौथा व्यक्ति हाथी कदली-स्तम्भ जैसा है।
पाचवा व्यक्ति हाथी मूसल जैसा है।
छठा व्यक्ति हाथी पखाल जैसा है।
सातवा व्यक्ति हाथी छाज जैसा है।

सात व्यक्तियो ने हाथी के बारे मे सात प्रकार की विरोधी जानकारी दी। वे एक-दूसरे से सहमत नही हुए। उनमे झगडा शुरू हो गया। कुछ समय बाद इधर से एक चक्षुष्मान व्यक्ति आया। सात अधो को आपस मे झगडते देख, वह वही रुक गया। उसने उनके झगडे का कारण जाना तो उसे उन पर तरस आ गया। उन्होंने कहा—'भाई साहब! आप हमारा झगडा निपटा दें।' वह झगडा निपटाने के लिए तैयार हो गया। वे सब बोले—'मैं सच कह रहा हू। मेरे साथ न्याय होना चाहिए।'

चक्षुष्मान व्यक्ति ने उन सबको न्याय के लिए आश्वस्त करते हुए कहा—'हम सब वहा चलते हैं जहा हाथी खडा है। वही जाकर मैं फैसला सुनाऊगा।' सातो अन्धे व्यक्ति उसके साथ चलने के लिए तैयार हो गए। वे चले और हाथी के पास पहुच गए। उसने सातो व्यक्तियो को उनके कथनानुसार एक-एक अवयव का स्पर्श करा दिया। वे अपने निर्णय पर अडिग थे। पहला व्यक्ति हाथी का पाव टटोलता हुआ बोला—देखो, हाथी खभे जैसा है।

चक्षुष्मान यह हाथी नही, हाथी का पाव है।

दूसरा व्यक्ति पूछ को सहलाता हुआ बोला—देखो, हाथी बास जैसा है।

चक्षुष्मान . यह हाथी नही, हाथी की पूछ है।

तीसरा व्यक्ति हाथी की पीठ सहलाता हुआ बोला—देखो, हाथी छत जैसा है।

चक्षुष्मान यह हाथी नही, हाथी की पीठ है।

चौथा व्यक्ति हाथी की सूड पकडता हुआ बोला—देखो, हाथी कदली-स्तभ जैसा है।

चक्षुष्मान यह हाथी नही, हाथी की सूड है।

पाचवा व्यक्ति हाथी के दात पकडता हुआ बोला—देखो, हाथी मूसल जैसा है।

चक्षुष्मान यह हाथी नही, हाथी के दात हैं।

छठा व्यक्ति हाथी के पेट को सहलाता हुआ बोला—देखो, हाथी पखाल जैसा है।

चक्षुष्मान : यह हाथी नही, हाथी का पेट है।

सातवा व्यक्ति · हाथी के कान पकडता हुआ वोला—देखो, हाथी छाज जैसा है।

चक्षुष्मान यह हाथी नही, हाथी के कान हैं।

चक्षुष्मान व्यक्ति ने इन सबको समझाते हुए कहा—'आप लोगो ने हाथी के एक-एक अग को हाथी मान लिया। इसलिए आप सब गलत है। आपने जो कुछ देखा है, वह एकागी दृष्टि है। एक अग कभी पूरा हाथी नही हो सकता। आप सातो की जानकारिया इकट्ठी हो जाएं तो हाथी का आकार पूरा हो जाए और आप सब सच्चे हो जाएं। चक्षुष्मान व्यक्ति ने यौक्तिक ढग से अन्धे व्यक्तियों को हाथी का ज्ञान करा दिया। यदि वे अपनी एक-एक वात को पकडकर वैठ जाते तो पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नही पाते।

दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए तो यह नयवाद है। जैनदर्शन सात नयो को स्वीकार करता है। एक-एक नय को ही सत्य मानने से वह दुर्नय हो जाता है। नय वस्तु के विवक्षित धर्म का प्रतिपादन करता है, पर अन्य धर्मो का खण्डन नही करता। खण्डनात्मक दृष्टिकोण मे सत्य का प्रतिविम्ब नही पकड़ा जा सकता है। एक-एक नय को पकडकर वैठने से सत्य नही मिलता। सत्य का साक्षात्कार होता है सातो नयों के समन्वय से।

दो सतो के मिलन की पृष्ठभूमि

सत्य अवक्तव्य होता है। वह वोला नही जा सकता। फकीर फरीद अपने शिष्यो के साथ यात्रा पर निकले। चलते-चलते वे काशी के पास पहुचे। वहा कवीर का आश्रम था। फरीद के शिष्यों ने कहा—'गुरुदेव ! हम यहा तक आ ही गए है तो सन्त कवीर से मिलने का सोचा जा सकता है क्या ? हमारे मन मे कुछ जिज्ञासाए हैं। सन्तो का मिलन और चर्चा कैसे होती है ? हम देखना चाहते हैं, सुनना चाहते हैं।'

इधर कवीर के शिष्यो ने उनसे कहा—'सुना है कि सन्त फरीद यहा आए हैं। हम उन्हे अपने आश्रम मे बुलाएं, आप उनके साथ वैठें, चर्चा करें तो हमें भी कुछ ज्ञान हो। आपकी अनुमति हो तो हम उनको आमंत्रित करें।'

फरीद और कवीर—दोनों के मन मे न किसी प्रकार की उत्सुकता थी और न कोई दुराव था। पर शिष्यो का आग्रह था। वे वोले—'हम मिलेंगे, वैठेंगे, हसेंगे और रोएंगे, किन्तु वोलेंगे नही, चर्चा नहीं करेंगे।'

सत्य कभी बोला नही जा सकता

कबीर के आश्रम मे फरीद आए। वे दो दिन वहा रहे। उस अवधि मे वे घटो तक साथ-साथ बैठे, पर एक शब्द भी नही बोले। शिष्य प्रतीक्षा करते-करते थक गए। बैठे-बैठे ऊब गए। फरीद उठकर जाने लगे तो उनके शिष्य बोले—'कबीर को कुछ बोलना ही नही था तो हमे यहा आने के लिए आमन्त्रित क्यो किया ?' कबीर के शिष्यो ने कहा—'फरीद को मौन ही रहना था तो यहा क्यो आए ? क्यो दो दिन तक रहे ?'

दोनो सन्तो के शिष्यो ने उनको घेर लिया और कहा—'हमारे मन मे बहुत आशा थी। हम आपसे बहुत कुछ जानना चाहते थे। आप कुछ तो बताए। फरीद खडे हुए और बोले—'शिष्यो ! सत्य कभी बोला नही जा सकता। शब्दो के द्वारा सत्य का प्रकटीकरण नही हो सकता। जो कुछ कहा जाता है, वह सत्य का अश हो सकता है। अश को पूर्ण समझना भूल है। साम्प्रदायिक आग्रह-विग्रह का मुख्य कारण यही बनता है। शास्त्र का सत्य अनुभव का सत्य बने, इसके लिए विशेष साधना की जरूरत है।

सत्य को पाया जा सकता है

तीर्थंकर सत्य को जानते है। वे किसी शास्त्र के आधार पर नही बोलते। वे जो कुछ कहते हैं, अनुभूत सत्य के आधार पर कहते हैं। पर उस सत्य का प्रतिपादन करने के लिए उन्हे शब्दो का सहारा लेना पडता है। शब्द लगडे होते है। वे कितनी दूर चल पाएगे ? सत्य अवाच्य होता है, इसलिए उसे काल्पनिक मानकर छोड दिया जाए, यह भी उचित नही है।

औचित्य का बिन्दु है नयवाद। यह सपूर्ण सत्य को प्रतिपादन का विषय नही बनाता। इसके द्वारा एक-एक अश का निरूपण सभव है। कण-कण जोडने से विशाल भडार बन सकता है। जहा-जहा सत्य का अश मिले, उसे स्वीकार करने का मनोभाव बना रहे तो सत्य के अनेक अशो का अवबोध हो सकता है।

दूसरी बात—सत्य को बोला नही जा सकता, सुना नही जा सकता, पढा नही जा सकता, पर पाया जा सकता है। एक जन्मान्ध व्यक्ति जब कभी प्रकाश के बारे मे कोई बात सुनता, उसे अस्वीकार कर देता। वह कहता—प्रकाश है तो मुझे बताओ कि उसका स्पर्श कैसा है ? उसमे गध कैसा है ? उसका रूप क्या है ? उसका स्वाद कैसा है ? बहुत समझाने पर भी उसने प्रकाश के अस्तित्व को स्वीकार नही किया।

सत्य को पाने की दिशा मे प्रस्थान

एक वार नगर में बुद्ध का आगमन हुआ। कुछ लोग अन्धे को बुद्ध के पास ले गए और वोले—'भन्ते! इमे प्रकाश के वारे मे वताएं।' बुद्ध कुछ कहे, उससे पहले ही वह वोल उठा—'जव तक मैं प्रकाश को सूघ न सकू, चख न सकू और उसके स्पर्श का अनुभव नही कर सकू, तव तक मैं उसके अस्तित्व को नही मानूगा।'

वुद्ध ने अंधे व्यक्ति का आग्रह देखकर कहा—'तुमसे कुछ भी मनवाने की गलती मैं नही करूगा। सत्य ऐसा तत्त्व है, जिसे कभी मनवाया नही जा सकता। तुम एक काम करो। किसी नेत्र-चिकित्सक के पास जाओ और अपनी आखो की शल्य-चिकित्सा करवाओ।' बुद्ध के निर्देशानुसार वह नेत्र-चिकित्सक के पास गया। चिकित्सा करवाई। उसकी आंखो मे ज्योति आ गई। आखें ज्योतिर्मय हुई तो प्रकाश भी उसकी आखो मे समा गया। वह वुद्ध के पास जाकर वोला—'भन्ते! मैं मानता हूं कि प्रकाश है।' बुद्ध ने कहा—'उसे छूकर, चखकर या सूघ कर दिखाओ।' वह बुद्ध के चरणो मे प्रणत होकर वोला—'भन्ते! मैंने पहले जो कुछ कहा, मेरा अज्ञान था। आपने मुझे ज्ञानी वना दिया। मैं समझ गया कि प्रकाश को छूकर, चखकर या सूघकर नही जाना जा सकता।'

सत्य की दो दृष्टियां

प्रकाश और सत्य दो नही है। जहां प्रकाश है, वहां सत्य है। जहा सत्य है, वहा प्रकाश है। सत्य को सपूर्ण रूप से नही जाना जा सके तो आशिक रूप मे ही उसे जाना जाए, उसका अनुभव किया जाए। 'जुद्धारिहं खलु दुल्लह'—युद्ध के लिए उचित अवसर दुर्लभ है, यह भी एक सत्य है।

लडना एक दृष्टि है, नही लडना एक दृष्टि है। इन दोनो दृष्टियो को समझना आवश्यक है। घी काम का है और तम्वाकू भी काम की है। पर इनका उपयोग तव तक है, जव तक ये अलग-अलग है। इनका मिश्रण होते ही घी का उपयोग समाप्त हो जाता है, तम्वाकू का उपयोग समाप्त हो जाता है।

लडो, लडना अच्छा है, यह एक दृष्टि है। मत लडो, लडना वहुत वड़ी वुराई है। यह भी एक दृष्टि है। लडो किससे? अपनी आत्मा से लड़ो, कर्म शरीर से लड़ो। **इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ**—किसी वाह्य तत्त्व के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? लड़ना है तो अपने कर्म-शरीर के साथ लड़ो, असत्प्रवृत्तियो के साथ लड़ो। मत लडो किसी दूसरे के साथ। दूसरो के साथ लडने वाला आहत होता है, मारा जाता है। चिडिया दर्पण मे अपना प्रतिविम्व देखकर उसके साथ लडती है। उस लडाई मे वह अपनी चोच तोड लेती है। लडाई का समय लवा हो तो वह प्राण तक दे देती है। इस प्रकार लड़ना कभी काम्य नही हो सकता।

लक्ष्य ऊंचा हो

लडना है अपने आपके साथ, अपने भीतर रहे विजातीय तत्त्वो के साथ, निषेधात्मक भावो के साथ और अपनी गलत आदतो एव प्रवृत्तियो के साथ। जो व्यक्ति यह लडाई लडने के लिए तत्पर रहता है, उसका लक्ष्य बहुत ऊचा होता है। लक्ष्य ऊचा है तो वहा तक पहुचने का साधन भी ऊचा होना चाहिए। ऊचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऊचे साधनो का प्रयोग करने वाला ही विजयी बन सकता है, विजय के गीत गा सकता है। इस सन्दर्भ मे एक गीत है—

लक्ष्य है ऊंचा हमारा, हम विजय के गीत गाए।
चीरकर कठिनाइयो को दीप बन हम जगमगाए॥

कठिनाइयो को चीरकर आगे बढने का सकल्प पुष्ट होता है तो व्यक्ति अधकार को देखकर रुकता नही है। वह स्वय दीपक बनकर दूसरो को पथ दिखाता है। निष्कर्ष की भाषा मे इतना ही कहा जा सकता है कि कोई भी सत्य निरपेक्ष होकर असत्य हो जाता है। हम सापेक्ष सत्य का प्रतिपादन करें, सापेक्ष सत्य को समझें और सापेक्ष सत्य को जीए। यह सापेक्षता ही हमको सपूर्ण सत्य का अनुभव करा सकती है।

३५. जागरण के बाद प्रमाद क्यों ?

'आयारो' का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है—**उद्ठिए नो पमायए**। इसका अर्थ है जब उठ ही गए तो प्रमाद न करें। जो व्यक्ति मूर्च्छा की स्थिति मे होता है, नीद मे रहता है, उसे क्या उपदेश दिया जाए। उसमे उपदेश की पात्रता नही होती। वह उपदेश की भूमि नही है। एक दृष्टि यह भी है कि जागृत को क्या जगाया जाए? जगाना उसे ही चाहिए, जो गहरी नीद मे ऊघ रहा हो। दूसरी दृष्टि यह है कि गहरे प्रमाद मे रहने वाला जाग नही सकता। जिसकी मूर्च्छा सघन होती है, वह न घडी का अलार्म सुनकर जागता है, न किसी के द्वारा झकझोरने पर जागता है और न पानी के छीटो से जागता हैं। इसलिए उपदेश, उद्बोधन और प्रेरणा की सार्थकता वही है, जहा व्यक्ति कुछ करने के लिए तत्पर रहता हैं।

प्रमाद का परिहार आवश्यक हैं। क्योकि प्रमत्त व्यक्ति सभावनाओ के द्वार बन्द कर लेता है। प्रमाद से प्रभावित व्यक्ति का साहस समाप्त हो जाता हैं। 'आयारो' कहता है—**सव्वतो पमत्तस्य भय, सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भय**—जो प्रमत्त है, उसे सब ओर से भय सताता है। अप्रमत्त व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नही होता। वह सब ओर से अभय रहता है। भय की ग्रन्थि से होने वाला स्राव व्यक्ति को विक्षिप्त-सा बना देता है। उससे वह अकारण अनिष्ट की आशकाओ से घिरा रहता है।

नौ घाटी पार करने से मिलता है मनुष्य का जन्म

जागरण की सर्वाधिक सभावना मनुष्य के शरीर मे रहती है। प्राणी नौ घाटिया पार करता है, तबकही मनुष्य बनता है। स्थावर जीवो के पाच प्रकार पाच घाटिया हैं। विकलेन्द्रिय जीवो की तीन घाटिया हैं। एक घाटी है असन्नी पचेन्द्रिय की। इन नौ घाटियो को पार करने मे बहुत पुरुषार्थ करना होता है। घाटी मे चढ़ाई होती है। तूफान आ जाए तो उसे पार करना और भी मुश्किल हो जाता है। किन्तु दृढ सकल्पी व्यक्ति किसी अवरोध के सामने रुकते नही। वे चलते रहते हैं। सकल्प

की अप्रकम्प दीप-शिखा हाथ मे लेकर वे चढ जाते है। घाटी पार हो जाती है।

नौ घाटियो को पार कर मनुष्य का जीवन जीने वाला व्यक्ति आर्य क्षेत्र मे जन्म लेता है, तो वह उसका सौभाग्य माना जाता है। आर्य क्षेत्र मे जन्म लेने पर भी धर्म तत्त्व की जिज्ञासा का होना कठिन है। किसी के मन मे जिज्ञासा का उदभव भी हो जाए तो धर्म का श्रवण होना कठिन है। धर्म श्रवण का अवसर उपलब्ध हो जाए तो उस पर श्रद्धा होना कठिन है। धर्म के प्रति श्रद्धा हो जाए, व्यक्ति सम्यक्‌दृष्टि हो जाए तो भी श्रावकत्व और साधुत्व मे पुरुषार्थ का सम्यक् नियोजन होना बहुत कठिन है। न जाने किस कोने मे प्रमाद आकर व्यक्ति को घेर लेता है और उसकी शक्ति कुठित हो जाती है।

मनुष्य का जीवन, भगवान महावीर का धर्म-शासन और श्रावकपन या साधुपन प्राप्त करके भी जो व्यक्ति प्रमाद करता है, वह हाथ मे आए अमूल्य हीरे को खोने जैसी मूर्खता करता है। यह अमूल्य रत्न एक बार गुम हो गया तो फिर से इसकी प्राप्ति दुर्लभ है। पर इसकी सुरक्षा के लिए भी भीतरी चेतना का जागरण अपेक्षित है। अन्यथा व्यक्ति समझ ही नही सकता कि कौन-सा काच है और कौन-सा रत्न है ? किस रत्न या आभूषण की सुरक्षा करनी चाहिए ?

अद्‌भुत आभूषण

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम प्रसिद्ध है। वे समाजसुधारक होने के साथ-साथ मातृभक्त थे। मातृदेवो भव, इस पाठ को उन्होंने आत्मसात कर लिया था। एक बार उनकी वृद्ध मा अस्वस्थ हो गई। वे मा के पास गए और बोले—'मा ! मैंने आज तक तुम्हारे लिए कुछ भी नही किया। अब तुम्हारी अवस्था भी है। पता नही कब क्या हो जाए ? मैं चाहता हू कि तुम्हारे लिए कुछ आभूषण बनवा दू।'

मा ने मन-ही-मन सोचा—अब तक मेरे पुत्र ने मा के मन को पहचाना नही है। प्रकट मे वह बोली—'बेटा ! तुम मेरे लिए आभूषण बनवाओ यह तो प्रसन्नता की बात है।' विद्यासागर ने पूछा—'मा ! कितने आभूषण बनवाऊ ?' मा ने उत्तर दिया—'अभी तीन आभूषण बनवा दो तो काफी हैं।' विद्यासागर ने सोचा—अच्छा हुआ, मैंने आज पूछ लिया। अन्यथा मा के मन मे अभाव का दर्द सालता रहता। उन्होंने उत्साहित होकर मा से कहा—'मा ! गलपटिया, मोतियो का हार और हाथ के कगन—ये तीन आभूषण ठीक होंगे।' मा बोली—'नही बेटा ! इनमे मेरी रुचि नही है।' विद्यासागर अधिक विनम्र होकर पूछने लगे—'मा ! तुम अपनी पसन्द के आभूषण बता दो, मैं वही बनवा दूगा।' मा ने मुस्कराते हुए कहा—'एक स्कूल, एक अस्पताल और एक अनाथालय। स्कूल मे सैकडो बच्चे पढे और पढकर सस्कारी बने। अस्पताल मे बीमार लोगो को चिकित्सा की सुविधा मिले और अनाथालय मे बेसहारा लोगो को सहारा मिले। बस, ये तीन

आभूषण…।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर मा की वात सुन चकित रह गए। वे सोचने लगे कि उनका चिन्तन कितना उथला था। उनकी मा एक महान महिला है। उसके मन मे कितनी उदारता, करुणा और सेवा-भावना है। वे पुरुष होकर भी हीरो-पन्नो, मोतियो और सोने मे उलझ गए। जवकि मा का इनमे कोई आकर्षण नही है। उन्होंने अविलम्ब तीनो काम पूरे कर दिए।

महिलाए रचनात्मक काम करे

विद्यासागर की मां के मन मे यह भावना क्यो जागी? क्योकि उसकी चेतना का जागरण हो गया था। महिला समाज और महिला सगठनो के लिए यह एक उदाहरण है। वच्चो को सस्कारी वनाने के लिए वे कोई रचनात्मक काम हाथ मे लें, शिक्षा के क्षेत्र मे ठोस काम करें तो जागृत चेतना की प्रतीक वन सकती हैं। अन्यथा समय हाथ से निकल जाएगा, मनुष्य का जीवन पूरा हो जाएगा और कोई रचनात्मक काम नही हो सकेगा।

वात महिला या पुरुष की नही, समय को समझने की है। शिक्षा के क्षेत्र मे आज सस्थानो की कमी नही है, पर जिस शिक्षा से जीवन की दिशा न वदले, जो साक्षरो की भीड़ इकट्ठी कर दे, पर शिक्षित व्यक्तियो का निर्माण न कर सके, समाज के लिए उस शिक्षा का क्या उपयोग होगा? अपेक्षा इस वात की है कि शिक्षा के क्षेत्र मे कोई ठोस काम हो और उसका परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई दे।

३६. जागरूकता से बढ़ती है संभावनाएं

मनुष्य का जीवन नयी सभावनाओ का जीवन है। सभावना सचाई मे बदले, इसके लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। सतत जागरूकता, स्मृति प्रस्थान और अप्रमाद एक ही बात है। प्रश्न एक ही है कि यह किसे सिखाया जाए? नवसिखुओं को सिखाने का प्रयास किया जा सकता है। पर उनके जीवन मे सतत जागरूकता तो बहुत दूर, जागरूकता भी परिलक्षित नही होती। ऐसी स्थिति मे उन व्यक्तियो की खोज की जाए, जो जागरूक हो। जागरूक व्यक्ति सतत जागरूकता का अभ्यास कर सकते हैं।

जागरूक कौन होता है? नीद नही ले, वह जागरूक और नीद ले, वह सुप्त। यह अधूरी परिभाषा है। ऐसे व्यक्ति भी मिलते है, जो नीद लेने पर भी जागृत रहते हैं और जागते हुए भी सोते रहते है। 'सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति'—अज्ञानी सदा सोए रहते हैं और ज्ञानी सदा जागृत रहते है। 'आयारो' की यह परिभाषा जागरूकता को ज्ञान के साथ जोड़ती है। ज्ञान के अभाव मे जागरण की कल्पना भी नहीं हो सकती। जो ज्ञानी होता है, वह अपनी आन्तरिक ऊंघ मिटाता है। उसकी विवेक चेतना जागृत रहती है। वह कुछ भी करता है, जागृत अवस्था मे करता है। यही जागरण जीवन मे विकास की संभावनाओ को उजागर होने का मार्ग देता है।

जागरूकता से टलता है पाप

सम्राट् श्रेणिक का पुत्र राजकुमार मेघ मुनि बना। वह सतत जागरूकता का अभ्यास करना चाहता था। उसने भगवान् महावीर से पूछा—'भन्ते! मैं साधु बन गया। मेरी साधना मे पूरी जागरूकता रहे, इसके लिए मुझे क्या करना है? शरीर की आवश्यकताओ पर ध्यान दू या शरीर से निरपेक्ष होकर आत्मलीन हो जाऊ? इस क्षेत्र मे मैं सर्वथा नया हू। आप मेरा मार्गदर्शन करें।'

भगवान महावीर ने मुनि मेघकुमार को नये जीवन का नया दर्शन देते हुए

कहा—'आयुष्मन् मेघ ! तुम साधु बने हो, सिद्ध नही। शरीर तुम्हारी साधना का साधन है। शरीर-निरपेक्ष रहकर तुम साधना कैसे करोगे ? तुम्हे चलना होगा, ठहरना होगा, बैठना होगा, सोना होगा, भोजन करना होगा, बोलना होगा और भी बहुत कुछ करना होगा। इन प्रवृत्तियो को छोडने की अपेक्षा नही है। एक ही अपेक्षा है कि तुम जो कुछ करो, जागरूकता से करो। जागरूकता की सीधी-सी पहचान है सयम। सयमपूर्वक की गई क्रिया से पापकर्म का बन्धन नही होता।'

मुनि मेघकुमार ने भगवान् महावीर के धार्मिक अनुशासन को विनतभाव से स्वीकार किया। साधना का कटकाकीर्ण पथ उसके लिए सुगम हो गया। सयम यात्रा मे सतत जागरूकता का अभ्यास कर वह अपने लक्ष्य की दिशा मे अग्रसर होता रहा।

निष्ठा हो लक्ष्य के प्रति

चलना जीवन की एक आवश्यक क्रिया है। चलने मे जागरूकता रहे तो वह गमन योग बन सकता है। जैसे गमन योग है, वैसे ही स्थान योग, निषीदन योग, भोजन योग, शयन योग, श्रवण योग आदि हो सकते है। एक गमन योग मे जागरूकता आने से अन्य प्रवृत्तियो मे भी जागरूकता आ सकती है। अपेक्षा है लक्ष्यपूर्वक अभियान की। लक्ष्य से भिन्न दिशा मे किया गया काम कितना ही उपयोगी क्यो न हो, उसके साथ जुडे हुए खतरो को टाला नही जा सकता।

सेठ ने अपने घर मे प्रहरी नियुक्त किया। उसे पूरी रात जागकर पहरा देना था। एक रात प्रहरी ने सपना देखा—अमुक ट्रेन से सेठ साहब यात्रा कर रहे है। वह ट्रेन दुर्घटनाग्रस्त हो गई। प्रात.काल उसने जानकारी की तो पता लगा कि वास्तव मे सेठ साहब उसी ट्रेन से जा रहे है। वह दौड़ा-दौडा मालिक के पास गया और बोला—'आज आप यात्रा नही करेंगे।' सेठ ने कारण पूछा। उसने अपने स्वप्न की बात सुनाई। सेठ को विश्वास नही हुआ। प्रहरी ने बहुत अधिक आग्रह किया। सेठ ने यात्रा स्थगित कर दी।

दूसरे दिन समाचार पत्रों मे उसी ट्रेन के दुर्घटना-ग्रस्त होने के सवाद छपे थे। मालिक की जान बच गई, इस बात पर प्रहरी खुश था। सेठ ने उसको बुलाया। स्वप्न के आधार पर सही सूचना देकर प्राण बचाने के लिए उसे पारितोषिक दिया और उसी समय उसको नौकरी से छुट्टी दे दी। वह देखता ही रह गया। उलटा काम कैसे हुआ ? उसने साहस कर पूछ लिया—'सेठ साहब ! मेरी गलती क्या हुई ?' सेठ ने उसको समझाते हुए कहा—'मैंने तुमको रात भर जगकर पहरा देने के लिए रखा है, नीद लेने या सपना देखने के लिए नही रखा। तुमने

मेरे प्राण बचाए, यह सही है। पर इस प्रकार सपने देखते रहोगे तो सुरक्षा का दायित्व कैसे निभाओगे ?' प्रहरी को अपनी भूल समझ मे आ गई।

दोहरी मूर्खता

भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। वह जब तक वीतराग नही हो जाता, केवलज्ञान नही पा लेता, भूल कर सकता है। पर भूल को भूल नही मानना दोहरी मूर्खता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'मनुष्य अपने जीवन मे किसी प्रकार का पाप करता है, यह उसकी भूल है। पर पाप को धर्म मानना दोहरी भूल है। 'विइया मदस्स बालया'—दोहरी भूल या मूर्खता कौन करता है ? जो व्यक्ति मन्द होता है, अज्ञानी होता है, विपरीत दृष्टिकोणवाला होता है, वह ऐसी मूर्खता करता है।

त्याग धर्म है, भोग धर्म नही है। त्याग के द्वार पर पहुचने से जो ऊर्जा मिलती है, वह भोग से नही मिल सकती। इस सत्य से आखमिचौनी करने वाले भोग को महत्त्व देते है। भोग जीवन की अनिवार्यता हो सकती है, पर उसमे धर्म का निरूपण किसी भी स्थिति मे काम्य नही है। गृहस्थ जीवन मे ऐसी अनेक प्रवृत्तिया करनी पडती है, जिनका मोक्ष या धर्म के साथ कोई सबध नही है। उनको धर्म समझने की भूल वे लोग करते हैं, जिनका दृष्टिकोण सम्यक् नही है। सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति दोहरी भूल नही करता।'

जागरूकता कब आती है

हम जहा रहते हैं, वहा हजारो यात्री आते हैं। क्यो ? भोग के साधनो की उनके पास कोई कमी नहीं है। यहा आने वाले कुछ पाने के लिए आते हैं। पाना क्या है ? सुख-सुविधाए यहा मिलें, न भी मिलें। उनके आने का उद्देश्य है—अध्यात्म का तत्त्व पाना। यहा से प्रस्थान करते समय उनको समालोचना करनी चाहिए—वे अपने साथ कुछ लेकर जा रहे हैं या खाली हाथ लौट रहे हैं ? खाली हाथ ही लौटता है तो आने-जाने का श्रम क्यो किया जाए ? कुछ पाना है तो उसके लिए सार्थक पुरुषार्थ किया जाए। पुरुषार्थ के फलित होने का प्रथम बिन्दु है—दृष्टिकोण का सम्यक्त्व। सत्य के प्रति प्रगाढ आस्था, सत्य की सही समझ और सत्य की दिशा मे प्रस्थान—पुरुषार्थ के ये अग्रिम चरण व्यक्ति को सतत जागरूकता की स्थिति मे ले जा सकते हैं।

३७. संभव है व्यक्तित्व का निर्माण

गुरु जैसा चेला

कुछ लोगो का यह अभिमत है कि किसी व्यक्ति का निर्माण नही किया जा सकता। जो जैसा है, वह वैसा ही रहता है। हर व्यक्ति अपने साथ सस्कार-सूत्र लेकर आता है। उनके आधार पर उसका व्यक्तित्व वनता है। इस अभिमत मे सत्य का अश हो सकता है। पर इसे ही पूर्ण सत्य मान लिया जाए तो शिक्षण सस्थानो और सस्कार निर्माण सस्थानो का उपयोग ही समाप्त हो जाएगा।

मेरे विचार से व्यक्तित्व का निर्माण सभव है। यह निर्भर करता है निर्माता पर। मिट्टी है, पर कुम्भकार नही है तो घडा कैसे वनेगा ? वीज है, पर उपयुक्त वातावरण और साधन सामग्री नही है तो वृक्ष कैसे वनेगा ? यही वात मनुष्य पर लागू होती है। जागरूक अभिभावक और शिक्षक अपने वच्चे और शिष्य का निर्माण वहुत अच्छे ढग से कर सकते है।

उदाहरण के रूप मे मैं अपने आपको प्रस्तुत कर सकता हू। आज मै जिस स्थिति मे हू, उसमे मेरा कुछ भी नही है। मेरे गुरु पूज्य कालूगणी की विशेषता है कि उन्होंने इस रूप मे मेरा निर्माण किया। एक कहावत है—'पाणी जिसो रेलो, गुरु जिसो चेलो।' मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि मुझे ऐसे गुरु नही मिलते तो मेरे जीवन का क्रम कोई दूसरा ही होता। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हू कि मुझे इतने योग्य गुरु मिले। उन्हें पाकर भी मैं कुछ नही वनता तो मेरे सौभाग्य मे कमी रहती।

अभिनन्दन मां का

नाजी सेना का एक सिपाही वहुत ईमानदार और नीतिनिष्ठ था। वह पुरस्कृत हुआ। उसके सम्मान मे एक कार्यक्रम आयोजित हुआ। वक्ता खडे हुए और उसकी प्रशसा करने लगे, उसके अभिनन्दन मे वोलने लगे। सिपाही खड़ा हुआ

और बोला—'बन्धुओ ! आपकी कृपा और स्नेह का मैं आभारी हू । पर मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हू कि यह अभिनन्दन और सम्मान मेरा नही मेरी मा का होना चाहिए । मै आज जो कुछ बना हू, अपनी मा के कारण बना हू । वह मुझे समय पर सही सीख नही देती तो पता नही आज मै कहा होता ?'

पूरे घटना-चक्र का विश्लेषण करते हुए उस सिपाही ने कहा—'युद्ध के दौरान पराजित राजा के गावो को लूटने का अभियान चला । मै भी सेना के साथ था । लूट मे प्राप्त कुछ आभूषणो को एक पेटी मे बन्द कर मैंने अपनी मा के पास भेजा । मैंने सोचा कि मा आभूषण पाकर खुश होगी । मा ने बडी उमग के साथ पेटी खोली । उसमे चमकते हुए आभूषणो को देख उसका माथा ठनका । वह जानती थी कि मुझे जितना वेतन मिलता है । उसमे मैं एक हीरा भी नही खरीद सकता । उसने चिन्तनपूर्वक उन आभूषणो को पेटी मे रख दिया । एक चिट के साथ पेटी मेरे पास पहुच गई ।

मा को भेजी हुई पेटी उसी रूप मे अपने पास पहुची देख मैं सोच मे पड गया । पेटी को खोला तो उसमे मा के हाथ की लिखी हुई चिट रखी हुई थी । मैंने उत्सुकता के साथ उसे पढा । उसमे लिखा था—'बेटा ! तुमने कीमती आभूषण भेजे । पर मै उन्हे लौटा रही हू । क्योकि यह चोरी का माल है । इसे अपने पास रखकर मैं चोर की मा कहलाना पसन्द नही करती ।' इन चार वाक्यो ने मेरी आखें खोल दी । उस दिन से मैंने सकल्प कर लिया कि जीवन मे कोई गलत काम नही करूगा । अब आप सब मेरे विचार से सहमत हो गए होंगे कि मैं आज जो कुछ बना हू, अपनी मा के कारण बना हू । मा का यह उपकार मै जनम-जनम तक नही भूल पाऊगा ।

मेरे काम मे गुरु प्रसन्न थे

पूज्य गुरुदेव कालूगणी मेरे निर्माता और भाग्यविधाता बने । मेरे मन मे उनके प्रति बचपन से ही बहुत आकर्षण था । मै बराबर यही सोचता था कि मुझे वह काम करना चाहिए, जिससे गुरुदेव को प्रसन्नता हो । उनकी सबसे बडी आकाक्षा थी—धर्मसघ मे शिक्षा का विकास । कोई साधु कही से कुछ नया सीखकर आता, उन्हे इतना उल्लास होता कि वह उनके मन मे नही समाता । मै कभी सस्कृत का नया श्लोक सीख लेता तो वे अत्यधिक प्रसन्न होते । उस श्लोक को वे बार-बार सुनते, प्रवचन मे लोगो को सुनवाते और मुझे उत्साहित करते ।

मैं दीक्षित हुआ । उस समय अधिक पढा-लिखा नही था । किन्तु गुरुदेव की कृपा इतनी थी कि मैं उसे शब्द नही दे सकता । उनकी करुणा ने मुझे पन्द्रह-सोलह साल की अवस्था मे अध्यापक बना दिया । मेरी दीक्षा के बाद जिन साधुओ की दीक्षा होती, उनमे कोई भी प्रतिभासम्पन्न होता, कुछ पढने की क्षमता वाला

होता, उसे मेरी पाठशाला मे प्रवेश मिल जाता। मैं वाल साधुओ को पढाता हूं, इस वात से उनको अतिरिक्त प्रसन्नता होती।

कठोर अनुशासन हित के लिए

प्रारंभ से ही मेरा अनुशासन वहुत कठोर था। पूज्य गुरुदेव की ओर से मुझे इतना अधिकार मिला हुआ था कि मेरे कठोर-से-कठोर अनुशासन के लिए वे कुछ नही कहते। एक वार कुछ साधु अनुशासन संवंधी शिकायत लेकर कालूगणी के पास गए। उन्होंने उनकी वात सुनकर कहा—'तुलसी का अनुशासन तुम्हारे हित के लिए है या नही?' वे वोले—'वात तो हित की होती है, पर···।' पूज्य गुरुदेव ने उनको वीच मे ही टोकते हुए कहा—'हित की कडी वात सहन करनी चाहिए।' कालूगणी के इस विश्वास के कारण मैं विद्यार्थी साधुओं को खड़ा कर देता, विगय छुडवा देता, सामूहिक काम मे हिस्सेदारी से वचित कर देता तथा कुछ अन्य प्रयोग भी करता। लक्ष्य एक ही था कि वे कुछ सीखें, कुछ वनें। उस समय का कठोर अनुशासन उनके जीवन-निर्माण मे कितना उपयोगी वना, इसका अनुभव वे स्वयं करते है।

ऐसे पिता क्या सीख देंगे?

जो माता-पिता अपने वच्चों को सस्कारी वनाने की दिशा मे जागरूक नही रहते, वे अपना और वच्चो का हित नही कर सकते। एक वालक चोरी से आम के वगीचे मे घुस गया। वह पेड पर चढकर आम तोडने लगा। वाग की रखवाली करने वाला माली उधर आ गया। उसने वालक को डाटते हुए कहा—'कहा है तेरा वाप? चल मेरे साथ। तेरी शिकायत करूगा।' वालक सहमता हुआ नीचे उतरा उसने एक आम के पेड की ओर इशारा करते हुए कहा—'देखो, मेरे पिता उस पेड़ पर आम तोड रहे है।' माली ने दोनो हाथो से अपना सिर थाम लिया। ऐसा पिता अपने वच्चो को क्या सीख और सस्कार दे सकता है?

गुरु के विश्वास को सार्थक करूंगा

अभिभावको और गुरुओ का दायित्व होता है कि वे अपनी नयी पीढ़ी को सही दिशा दें। दिशा-दर्शन के अभाव मे नयी पीढी दिशाहीन होती है तो यह दोष उस पीढ़ी का नही, उसके अभिभावको का है। जो गुरु अपने शिष्यो को जीवन-निर्माण के सूत्र नही दे सकते, उनकी गुरुता के आगे प्रश्न-चिह्न उपस्थित हो जाता है।

तेरापथ धर्मसंघ मे आचार्यो की विशिष्ट परंपरा रही है। वे धर्मसघ के प्रशासक भी होते हैं और गुरु भी। वे अपने शिष्यो की योग्यता को परखने और निखारने मे पूरा ध्यान देते हैं। मेरी अपनी स्थिति से मैं अनजान नहीं हू।

पूज्य गुरुदेव की कृपा और जागरूकता ने ही मुझे इस स्थिति तक पहुचाया है। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उनके सपनो को साकार करने मे अपनी शक्ति का नियोजन करू। विगत तिरेपन वर्षो से मैं उनके सभलाए हुए काम मे सलग्न हू। आज इस अवसर पर मैं पुन इस सकल्प को दोहराता हू कि पूज्य गुरुदेव ने मेरे नन्हे कधो पर जो विश्वास किया, मैं उस विश्वास को सार्थक और सफल करता रहूगा। पूरे धर्मसघ का सहयोग मुझे उपलब्ध है। इसके सहारे समग्र मानव जाति की आध्यात्मिक सेवा के लिए मुझे प्रस्तुत रहना है।

३८. जैनत्व की पहचान : कुछ कसौटियां

जैनधर्म शाश्वत हो या नही, जैनधर्म के सिद्धान्त शाश्वत हैं। ऐसा कोई भी समय नही था जब जैनधर्म के सिद्धान्त नही थे अथवा इन सिद्धान्तो का उपयोग नही था। जैन न कोई जाति है और न कोई सम्प्रदाय। फिर भी जाति और सम्प्रदाय के रूप मे जैनत्व का व्यवहार होता है। जिन को अपना आराध्य मानने वाला जैन होता है। जिन का सबन्ध ज्ञानी या विजेता पुरुष से है। जो महामानव अपनी साधना और तपस्या से अतीन्द्रिय ज्ञान की पूर्णता के बिन्दु तक पहुच जाता है, जो राग-द्वेष जैसे दुर्धर्ष भावो को जीतकर समभाव मे रमण करता है, वह जिन होता है। जिन के द्वारा निरूपित धार्मिक मूल्यो को स्वीकार करने वाला जैन होता है। कितनी व्यापक और सुलझी हुई परिभाषा है जैन की। मेरे अभिमत से जैन धर्म की सत्ता सार्वभौम और सार्वकालिक है।

उलझा हुआ मुद्दा

कोई व्यक्ति जैनधर्म के प्रति आस्थावान् होता है, वह जैनधर्म स्वीकार करता है, अपने आपको जैन मानता है, उसकी न्यूनतम पहचान क्या है? क्या जैन समाज की कोई निजी वेशभूपा है? क्या कोई बेज, ध्वज, सिक्का या स्टाम्प्स है? जो जैन लोगो को अन्य लोगो से भिन्न पहचान दे सके।

उक्त प्रश्न के उत्तर मे सामान्यत यह कहा जा सकता है कि जैनो का अपना पचरंगा ध्वज है, प्रतीक है, उपासनाकाल की वेशभूपा है और तीर्थंकरो तथा आचार्यों के चित्र भी हैं, जिन्हे देखते ही जैनत्व की प्रतीति होने लगती है।

इस सबध मे मेरा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। भगवान महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे जैनधर्म के चार मुख्य सम्प्रदायो के प्रतिनिधि आचार्यों या मुनियों ने एक साथ बैठकर यह निर्णय लिया था कि जैनधर्म का एक सर्वमान्य ध्वज, प्रतीक, ग्रन्थ और गीत होना चाहिए। इसके लिए प्रयास हुए। परिणाम भी आया। पर जैनत्व को जो व्यापक पहचान मिलनी चाहिए थी,

नही मिल मकी। जैनध्वज और प्रतीक का उपयोग यत्र-तत्र होने लगा है, पर इनके साथ भी अनिवार्यता जैसी कोई वात नही है। जैनग्रन्थ 'समण मुत्त' का तो लाखो जैन नाम भी नही जानते है। एक वन्दना-गीत का जहा तक सवाल है, उस पर सवकी सहमति वन ही नही पाई। चित्रो के उपयोग मे भी कोई निश्चित नीति नही है। ऐसी स्थिति मे जैनत्व की पहचान का मुद्दा वहुत उलझा हुआ प्रतीत होता है।

निस्तेज होती पहचान

ध्यान देने की वात यह है कि ध्वज, प्रतीक या वेज आदि मे जो पहचान होती है, वह जैनत्व की नही, जैन कहलाने वाले लोगो की पहचान है। इनमे जैनत्व कहा है? यदि इन सव ऊपर की चीजो से जैनत्व को जोडा गया तो मयम और तप की जरूरत ही क्या होगी? त्याग-तपस्या की आवश्यकता क्या होगी? सवर और निर्जरा का मूल्य क्या होगा?

वेशभूपा और ऊपर का परिवेग सूचक हो सकता है, पहचान नही। पहचान जुडी होती है व्यक्ति की निजी जिन्दगी से। पहचान जीवनशैली का एक अभिन्न हिस्सा होता है। विदेशी लोग भारत मे आए। वे किमी जैन परिवार के मेहमान थे। उन्होंने देखा कि सूर्यास्त मे पहले-पहले परिवार के सव सदस्य भोजन कर लेते हैं। उनको कुछ विलक्षणता का आभास हुआ। पूछताछ करने पर पता चला कि वे जैन हैं, इसलिए रात्रिभोजन नही करते। आज कितने जैन परिवार ऐसे है, जिनमे रात्रिभोजन सर्वथा निपिद्ध है।

जो जैन है, वे मास नही खाते, शराव नही पीते, वेगुनाह प्राणियो को नही सताते, खाद्य-पदार्थों मे वेमेल मिलावट नही करते, अनछना पानी नही पीते आदि वहुत-सी वाते हैं। इनके माथ भी कितने जैन परिवार प्रतिवद्ध हैं। लगता है जैनो को जैनत्व का गौरव नही है। अन्यथा जैनत्व की पहचान इतनी मद और निस्तेज क्यो हो जाती?

जैनत्व की पहचान

मेरी आकाक्षा तो यह है कि जैनो की अपनी निश्चित जीवनशैली हो। उनमे छोटी मे छोटी वात पर जैन दृष्टि मे ध्यान दिया जाए। कैसे चलना? कैसे वोलना? कैसे ठहरना? कैसे सोना? कैसे श्वास लेना? कैसे सेवा करना? दो शब्दो मे कहे तो कैसे जीना? इन सव प्रवृत्तियो पर प्रारम्भ मे ही ध्यान दिया जाए तो जैनत्व की पहचान अपने आप उभर सकती है।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। इसकी वैज्ञानिकता को सव लोग समझ सके यह सभव नही है। जैन लोग भी जैनत्व के तल तक पहुच जाए, वहुत कठिन वात

है । ऐसी परिस्थिति मे जैन होने की छोटी-सी पहचान का निर्धारण कर व्यक्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने मे सफल हो सकता है ।

जैनो की एक छोटी-सी पहचान यह हो सकती है—प्रातः उठने के वाद, रात्रि मे शयन से पूर्व और मध्याह्न मे भोजन से पहले कम-से-कम पाच वार 'णमोक्कार महामंत्र' का स्मरण करना । प्रत्येक जैन परिवार का प्रत्येक सदस्य इस सरल और सहज प्रक्रिया को स्वीकार करे तो लाखो जैन वच्चों को अपने जैन होने का अहसास मिल सकता है ।

मत्र-स्मरण की तरह अर्हत्-वन्दन या गुरु-वन्दन का भी कोई क्रम निर्धारित हो सकता है । प्रात और सायं—दोनो समय अथवा केवल सायंकाल अर्हतो या गुरुओ को तीन वार प्रदक्षिणापूर्वक भावपूर्ण वन्दना करने का संस्कार विकसित हो, यह भी जैनत्व की पहचान का छोटा-सा अंग हो सकता है ।

सस्कृति उजागर कैसे हो

वौद्ध परम्परा के अनुसार प्रत्येक वौद्ध व्यक्ति को अपने जीवन मे एक वार अनिवार्य रूप से वुद्ध धर्म मे दीक्षित होना पड़ता है । दीक्षा की अवधि भले छह मास की रहे । पर जव तक व्यक्ति दीक्षित नही होता, उसे पूरा वौद्ध नही माना जाता ।

तिव्वती लमाओ की परम्परा है कि जव वे प्रार्थना करते हैं, पूरी भावक्रिया के साथ करते हैं । वच्चा हो या वृद्ध, प्रार्थना के समय आख उठाकर इधर-उधर देखने की पद्धति नही है ।

यह आवश्यक नही है कि जैन लोग वौद्धो या लामाओ का अनुकरण करें । उन्हे अपनी समझ से काम लेना है, अपनी परम्परा को समझना है और अपनी सस्कृति को उजागर करने के लिए कोई नया तरीका प्रचलित करना है ।

आग्रह और कलह-मुक्ति भी एक पहचान है

जैन परिवारो की पहचान के लिए एक कसौटी हो सकती है—आग्रह-मुक्त चिंतन, कलह-मुक्त वातावरण । दस-वीस व्यक्ति साथ रहे, वहा आग्रह या कलह न हो, वहुत कठिन है । पर जैनत्व के मर्म को समझने वाले लोगो का दायित्व है कि वे आग्रह या कलह के कारणो को समाप्त कर सौहार्द से जीना सीखें ।

पति-पत्नी के वीच झगड़ा हो गया । वहुत देर तक लडते रहे । पास-पडोस के लोग इकट्ठे हो गए । उन्होंने पूछा—'क्या वात है ? आप इस प्रकार क्यो झगड रहे है ?' पडोसियो को सामने खड़ा देख पति सकुचा गया । वह वोला—'वात कोई विशेप नही है । जव मे हमारी शादी हुई, हमारे वीच खटपट चलती रहती है । शादी के प्रथम वर्प मैं वोलता, मेरी पत्नी मौन रहती । दूसरे वर्प पत्नी ने वोलना

शुरु किया, मैं मौन हो गया। अब यह तीसरा वर्ष चल रहा है। इसमे हम दोनो बोलते हैं और आप लोग सुनते हैं। जैन परिवारो मे इस प्रकार का कलह न हो, यह आवश्यक है।

सगठन मे होती है शक्ति

जिस परिवार मे कलह नही होता और जिस परिवार मे कलह होता है, उनकी छवि को उजागर करने वाली एक कहानी हम बहुत बार सुनाया करते है—

शहर मे सेठ का परिवार रहता था। परिवार सम्पन्न था और सम्यवाला था। एक चूल्हे पर पचासो व्यक्तियो का भोजन पकता था। एक बार आकस्मिक रूप से व्यापार मे घाटा लगा। स्थिति इतनी विकट बनी कि दो समय दाल-रोटी बनाकर पेट भरने की गुजाइश भी नही रही। सेठानी ने सेठ को स्थिति से अवगत किया। सेठ ने परिवार के सब सदस्यो को बुलाकर वहा से प्रस्थान करने का आदेश दिया।

सेठ का आदेश मिलते ही छोटे-बडे सब लोग तैयार होकर चल पडे। चलते-चलते वे एक घने जगल मे पहुच गए। सरकडो का जगल देख सेठ ने वही पडाव डाल दिया। परिवार के सदस्य सेठ के आदेश की प्रतीक्षा मे थे। सेठ ने कहा—'सरकण्डे काटो, पानी मे भिगाओ और रस्से बनाओ।' सब लोग काम मे लग गए। रस्से बटने के लिए उन्होने एक वृक्ष के तने को चुना। वे उसे सरकण्डो से बीटते गए।

उस वृक्ष पर एक यक्ष रहता था। इतने लोगो को एक साथ रस्से बनाते और उस वृक्ष को रस्सो से बाधते देख वह घबरा गया। उसने पूछा—'आप लोग यहा क्या कर रहे हैं?'

सेठ—रस्से बना रहे है।

यक्ष—रस्सो से क्या करेंगे?

सेठ—देख नही रहे हो, हम तुमको बाधेंगे।

यक्ष—मुझे बाधने का क्या प्रयोजन?

सेठ—हम सब भूखे हैं। भूख मिटाने के लिए कुछ तो करेंगे ही।

यक्ष—(इनका सगठन मजबूत है। इनका अनुशासन अद्भुत है। ये सब मुझे बाधने के लिए आमादा हैं। बाध लेंगे तो क्या करूगा?) प्रकट मे—सेठ साहब! मुझे बाधो मत। आप अपने घर चले जाओ। आपको सब कुछ मिल जाएगा।

सेठ—हम तुम्हारा विश्वास करके जा रहे है। वहा हमे कुछ नही मिला तो वापस आ जाएगे।

सेठ ने पूरे परिवार को इकट्ठा कर घर लौटने का आदेश दिया। घर पहुचते ही उनके भाग्य का पासा पलट गया। स्थान-स्थान पर धन के ढेर लगे

थे । उनकी स्थिति मे अप्रत्याशित सुधार हो गया। सारी व्यवस्थाए पहले से अधिक अच्छी हो गई ।

परिवार वंधे विना दूसरा कैसे वधेगा ?

सेठ के पडोस मे एक दूसरा परिवार रहता था । परिवार वडा था, पर कोई किसी का आदेश-निर्देश मानने की स्थिति मे नही था । परिवार के मुखिया ने अपने पडोसी के घर मे अचानक उतर आई लक्ष्मी को देखा । उसे आश्चर्य हुआ । खोजवीन करने पर उसे यक्ष द्वारा दिए गए वचन की सारी घटना ज्ञात हो गई । उसकी आकाक्षाओ के पख लग गए । उसने भी जगल मे जा यक्ष से वचन लेने की योजना वना ली ।

दूसरे दिन सेठ ने अपने परिवार को एकत्रित कर जगल मे चलने की आज्ञा दी । एक भी सदस्य सहजता से तैयार नही हुआ । वहुत देर तक मनुहार कर उनको चलने के लिए राजी किया । सेठ सीधा सरकण्डो के वन मे पहुचा । वडा वृक्ष देख वहा अपना पडाव डाल दिया । कुछ देर विश्राम के वाद उसने आदेश दिया—'सरकण्डो को काटो और रस्से वनाओ ।' वेटो-पोतो ने भाति-भाति के वहाने वनाए और वे हाथ पर हाथ धरकर वैठ गए । वहा वैठे-वैठे भी वे आपस मे झगडने लगे । पुत्र-पौत्रो से काम लेने की आशा छोड सेठ स्वय उठकर गया । उसने, कुछ सरकण्डे काटे और वृक्ष को वाध रस्से वटने शुरू कर दिए । यक्ष प्रकट हुआ और वोला—'आप लोग यहा क्यो आए हैं ?' सेठ ने कहा—'हम भूखे है । तुमको वाधने आए है ।' यक्ष अट्टहास करता हुआ वोला—'पत्नी वधी नही, वच्चे वधे नही और मुझे वाधोगे । ऐसे ही मैं वधता रहता तो आज तक जिन्दा ही नही रहता । जाओ, भागो यहा से । अन्यथा सवको मार दूगा ।' सेठ ने इधर-उधर देखा । उसके प्राय सभी परिजन जगल से गाव की ओर प्रस्थित हो चुके थे । पारिवारिक कलह और अनुशासनहीनता किसी भी दृष्टि से हितावह नही हो सकती ।

सयुक्त परिवार : वापसी का सपना

वीसवी सदी के उत्तरार्द्ध तक देश की सामाजिक और पारिवारिक स्थितिया भी वहुत वदल गई है । पश्चिमी जीवन शैली से प्रभावित आज की पढी-लिखी युवा पीढ़ी अपने अनपढ बुजुर्गो के साथ रहने के लिए राजी नही हैं । कुछ आर्थिक या व्यावसायिक कठिनाइया भी सिर उठाने लगी है । इसका असर हुआ परिवार-सस्था पर । इन दशको मे जिस गति से परिवार टूट रहे हैं, आपसी समझ, प्रेम और सौहार्द का भी ह्रास हो रहा है । परिवार के साथ सुख-दु ख की साझेदारी कम

हो रही है। सयुक्त परिवार की व्यवस्था वदलने से युवा-पीढी मे स्वावलम्बन वढा है तो कुछ कठिनाइया भी वढी। पीढी-दर-पीढी सस्कारो के सक्रमण का जो क्रम था, वह शिथिल हो गया है। कुछ चिन्तनशील लोग सयुक्त परिवार पद्धति की वापसी के सपने देखने लगे है। क्या इक्कीसवी सदी की अगवानी के कार्यक्रमो मे एक कार्यक्रम यह भी रहेगा ?

३६. जैन जीवन शैली

जन्म और जीवन दो भिन्न घटनाएं है। जन्म सहज घटना है। जीवन सरजा जाता है। जन्म का अर्थ है एक खान से पाषाणखण्ड का बाहर आना। जीवन है उस पाषाणखण्ड को तराश कर प्रतिमा का निर्माण करना। कारीगर दक्ष होता है तो प्रतिमा को जीवन्त-सी बना देता है। दक्षता के अभाव मे किसी भी पाषाण को दर्शनीय नही बनाया जा सकता। जीवन को सजाने और सवारने की जो दक्षता मनुष्य मे है, किसी भी प्राणी मे नही है। मनुष्य इस दक्षता का उपयोग करे, इसके लिए एक व्यवस्थित जीवन-शैली की अपेक्षा है। क्योकि जीवन की यात्रा अज्ञात मे प्रस्थान है। उसके लिए कोई मार्ग निश्चित नही है। कुछ व्यक्ति स्वय मार्ग का निर्माण करते हैं, चलते हैं और मजिल तक पहुच जाते हैं। यह साहस अधिक लोगो मे नही होता। सामान्यत लोग बने-बनाए पथ की प्रतीक्षा करते हैं। महाजनो येन गत स पन्था—महान् व्यक्ति जिस पथ पर चलते है, वह पथ सबको सुलभ हो जाता है। पर बहुत लोगो मे महान् व्यक्तियो का अनुगमन करने का सामर्थ्य भी नही होता। वे इतना सीधा मार्ग खोजते रहते हैं, जिस पर चलने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो।

कुछ मार्ग ऐसे होते है, जिन पर लाखो-करोड़ो लोग चलते है। पर इतने मात्र से उनकी श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं हो सकती। कोई भी वस्तु अधिक बिकाऊ होने मात्र से सर्वोत्तम नही हो सकती। कोई भी परम्परा बहुप्रचलित होने मात्र से उपादेय नही हो सकती। इसी प्रकार कोई भी जीवनशैली प्राचीन होने मात्र से स्वीकार करने योग्य नही हो सकती। जीने का वही तरीका प्रशस्त और उपयोगी माना जाता है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनो लाभान्वित हो। जीवन की वही शैली उदात्त और आदरणीय हो सकती है, जो त्रैकालिक और जीवन्त जीवन-मूल्यो से अनुप्राणित हो। जो चिरन्तन होने पर भी चिरनवीन हो, जो युगीन समस्याओ के प्रति सचेत हो और जिसमे सास्कृतिक तथा सामाजिक विकृतियो के निर्मलीकरण का दर्शन निहित हो।

जैन धर्म का अपना मौलिक दर्शन है। इसके सिद्धान्त किसी राह चलते व्यक्ति द्वारा निरूपित नही हैं। समता और अनासक्ति की बुनियाद पर इन सिद्धान्तो की सरचना की गई है। जैन तीर्थंकर सत्य के परम उपासक थे। उन्होने अपना जीवन सत्य की खोज या उसके साक्षात्कार हेतु समर्पित किया। उनकी साधना का एक मात्र उद्देश्य था सत्य। उन्होने साधना की, सत्य का साक्षात्कार किया और अहिंसक जीवनशैली का सूत्रपात किया। सपूर्ण अहिंसा का पालन हर एक व्यक्ति के वश की वात नही थी। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर उन्होंने अहिंसा प्रधान जीवनशैली की व्याख्या की।

वैज्ञानिक विकास के इस युग मे, जबकि मनुष्य वैज्ञानिक उपलब्धियो के साथ इक्कीसवी सदी मे प्रवेश की तैयारिया कर रहा है, अध्यात्म का दर्शन छोडकर आगे बढेगा तो उसका आगे बढना सार्थक और सौष्ठवपूर्ण नही हो सकेगा। एक नये जीवनदर्शन या नयी जीवनशैली के साथ मनुष्य अगली सदी मे प्रवेश करे, यह इस समय की सबसे बडी अपेक्षा है। बहुत वर्षो से यह वात मेरे मन मे थी। योगक्षेम वर्ष की समायोजना ने इस बात पर गहराई से ध्यान देने के लिए प्रेरित किया। विशेष उद्देश्य के साथ महावीर वाणी का मनन किया तो अनुभव हुआ कि वहा एक सपूर्ण जीवनशैली के सूत्र बिखरे पडे हैं। युगीन समस्याओ के सदर्भ मे समाधायक सूत्रो को पकडा और एक नव-आयामी जैन जीवनशैली उभरकर सामने आ गई। आधुनिक परिस्थितियो से उपजी हुई समस्याओ का समाधान इस प्रकार के शाश्वत और जीवत मूल्यो के आलोक मे ही खोजा जा सकता है।

जैन जीवनशैली मे सकलित सूत्रो मे न तो साम्प्रदायिकता की गन्ध है और न अतिवादी कल्पना का समावेश है। जीवन-निर्माण मे सहायक मानवीय और सास्कृतिक मूल्यो को आत्मसात् करने वाली यह जीवनशैली केवल जैन समाज के लिए ही नही है, मानव मात्र को मानवता का मगल पथदर्शन देने वाली है। यह जीवनशैली जन-जीवन की सर्वमान्य शैली बन जाए, ऐसी मेरी आकाक्षा है। एक दशक का समय सामने है। उसका हमे उपयोग करना है और इन सारभूत तत्त्वो को लाखो-लाखो लोगो के गले उतारना है। दीपक बोलता नही, जलता है और प्रकाश फैलाता है। यह जीवनशैली भी बोलने की नही, जीने की शैली है। यह न कोई आन्दोलन है, न नियमो का समवाय है, न नारा है और न कोई घोषणापत्र है। यह है एक मार्ग, जिस पर चलना है और मनुष्यता के शिखर पर आरोहण करना है।

जैन जीवनशैली के निदेशक तत्त्व

मैं जैन हू । जैनधर्म मे मेरी आस्था है । जैन सस्कृति के प्रति मेरा आकर्षण है । अपनी आस्था की पुष्टि के लिए मै जिनेन्द्र देव अर्हत् को अपना आराध्य देव मानता हू । आजीवन पाच महाव्रतो का पालन करने वाले शुद्ध साधुओ को मैं अपना गुरु मानता हूं । अर्हत्-भाषित तत्त्व को मैं धर्मबुद्धि से स्वीकार करता हूं । देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धारूप सम्यक्त्व को सुस्थिर बनाने के लिए मैं जैन-जीवनशैली के निम्नलिखित निदेशक तत्त्वो (सकल्पो) को स्वीकार करता हू ।

१. समानता

मैं अर्हत् वचनो मे आस्था रखता हू । उनके द्वारा निरूपित समता के सिद्धान्त मे मेरा विश्वास है । इसलिए मैं जाति, वर्ग, रग, लिंग आदि के आधार पर किसी मनुष्य को हीन नही मानूगा । किसी को अस्पृश्य (अछूत) मानकर उसके प्रति घृणा का व्यवहार नही करूंगा ।

२. शान्त वृत्ति

मुझे शान्ति प्रिय है । मैं कलह के प्रसग को टालने का प्रयास करूगा, मैत्री भावना का विकास करूगा और पारिवारिक, सामाजिक तथा सस्थागत जीवन मे सहिष्णुता और शान्तसहवास का अभ्यास करूगा । किसी भी परिस्थिति मे अपनी एव दूसरो की शान्ति भग करने जैसी स्थिति से बचता रहूगा ।

३ श्रमशीलता

श्रम श्रमण सस्कृति का प्रतीक है । श्रम मे मेरा विश्वास है । मैं सापेक्ष स्वावलम्बन का अभ्यास करूगा । श्रम का अवमूल्यन नही करूगा । श्रम करने वाले को हीनता की दृष्टि से नही देखूगा । किसी के श्रम का शोषण नही करूगा ।

४. अहिसा

अहिसा और अभय का सहज योग है । अहिसा-प्रधान जीवन जीने के लिए मैं अभय रहूगा । आत्महत्या, परहत्या और भ्रूणहत्या जैसे अवाछनीय काम नही करूंगा । दहेज-हत्या से बचता रहूगा । आतकवाद को प्रश्रय नही दूगा, पर्यावरण-शुद्धि के लिए जागरूक रहूगा । अनर्थहिसा से बचता रहूगा और क्रूरहिसा पूर्ण प्रसाधन तथा परिभोग सामग्री[1] का उपयोग नही करूंगा ।

---

१ शैम्पू, सेंट, आफ्टरशेव लोशन, फर के कोट, बैग, चप्पल आदि वस्तुए ।

५ इच्छापरिणाम

मैं अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण रखूगा। पदार्थ के परिभोग की सीमा करूगा। खाद्य पदार्थो मे मिलावट नही करूगा। तस्करी (स्मगलिंग) नही करूगा। अण्डे, माम आदि का व्यापार कर अर्थार्जन नही करूगा। अर्जन के माथ स्वामित्व विसर्जन का प्रयोग करूगा—अपनी शुद्ध आय का ऐच्छिक विसर्जन करूगा।

६. आहार शुद्धि और व्यसनमुक्ति

मैं खानपान की शुद्धि रखूगा—मास, मछली, अण्डे आदि का सेवन नही करूगा। व्यसनमुक्त जीवन जीने का अभ्यास करूगा—शराब, नशीले पदार्थ, पानपराग आदि मादक पदार्थो मे बचता रहूगा। जुआ नही खेलूगा। शादी के उपलक्ष्य मे रास्ते मे होने वाले नाच, रुपयो की उछाल आदि का वर्जन करूगा। शादी मे अभक्ष्य (मास आदि) तथा अपेय (शराब आदि) का प्रयोग नही करूगा। शादी के उपलक्ष्य मे आयोजित ढुकाव, प्रीतिभोज आदि मे यथासभव रात नही होने दूगा। उक्त सकल्पो के अतिक्रमण के प्रसग मे असहयोग करूगा।

७ अनेकांत

मैं दुराग्रह नही करूगा। विवादास्पद विषय मे यथासभव सामजस्य बिठाने का प्रयास करूगा। किसी भी घटना प्रसग को उसके प्रत्येक कोण से समझने की चेष्टा करूगा। विचारभेद की स्थिति मे मनोमालिन्य को पनपने का अवसर नही दूगा।

८ समता की उपासना

मैं स्वाध्याय, सामायिक आदि का अभ्यास करूगा। प्रतिदिन प्रात उठने के पश्चात्, भोजन से पूर्व तथा शयन से पूर्व—तीनो समय पाच-पाच नमस्कार महामन्त्र का विधिपूर्वक जप करूगा। दैनिक उपासना मे प्रतिदिन अर्हत्-वन्दना करने का लक्ष्य रखूगा। सवत्सरी महापर्व मनाऊगा। उस दिन उपवास अवश्य करूगा।

मैं घर, दुकान आदि की सजावट मे जैन सस्कृतिपरक चित्रो के उपयोग का लक्ष्य रखूगा, जैसे—नमस्कार महामन्त्र का चित्र, जैन तीर्थंकरो के चित्र, आचार्यों के चित्र, जैन प्रतीक आदि। मैं शादी, विवाह आदि के अवसरो पर जैन सस्कार विधि को विस्मृत नही होने दूगा।

९. साधर्मिक वात्सल्य

मैं नमस्कार मंत्र का श्रद्धापूर्वक जप करने वाले को अपना साधर्मिक मानूगा। उसके साथ भाईचारे का व्यवहार रखूगा। उसके सुख-दुःख मे उपेक्षा नही वरतूगा। देव, गुरु, धर्म के प्रति उसकी आस्था के स्थिरीकरण का प्रयत्न करूंगा।

४०. स्वस्थ जीवन के तीन मूल्य

जैन जीवन-शैली के नौ सूत्र और अणुव्रत के ग्यारह नियम। दोनो का उद्देश्य है जीवन का उदात्तीकरण। अन्तर है तो इतना-सा कि अणुव्रत मे जैन-अजैन की कोई भेदरेखा नही है और जैन जीवन-शैली मे ऐसे तत्त्व समाविष्ट है, जो जैन आस्था का प्रतिनिधित्व करते है।

अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है, मानव धर्म है। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि कोई भी हो, अपने-अपने धर्म के प्रति आस्थावान रहते हुए वे अणुव्रती वन सकते है। अणुव्रती वनकर वे अपनी धार्मिक आस्था को दुर्वल नही करते और धार्मिक आस्था की दृष्टि से कट्टर रहते हुए अणुव्रत के आचरण मे कमजोर नही पडते।

सफलतापूर्वक पीछे हटना

अणुव्रत जैसे व्यापक अभियान को चार दशको तक चलाने के वाद हमने जैन जीवन शैली की चर्चा की। इस सन्दर्भ मे तर्क उपस्थित हो सकता है कि यह स्थिति आगे वढकर पीछे हटने जैसी नही है क्या ? हो सकती है। पर यह निश्चित है कि हम असफल होकर पीछे नहीं हटे हैं। इग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने सफलतापूर्वक पीछे हटने को विजय का अग स्वीकार किया है। हम भी सफलता-पूर्वक पीछे हटे है, यह हमारी सफलता को अधिक सघन वनाने का उपक्रम है।

जैन शास्त्रो मे, जैन तीर्थंकरो मे जिनकी आस्था है, वे जैन कहलाते है। उनका जीवन सही हो, उनको जैन होने और कहलाने मे गौरव का अनुभव हो, इस दृष्टि से उनके सामने कुछ आदर्श हो और वे उन आदर्शों को जीवन-व्यवहार मे जोडकर उनकी मूल्यवत्ता स्थापित करें, यह आवश्यक है। प्राथमिक रूप मे तीन विन्दुओ पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है—

- विवेक जागरण
- अहं विसर्जन

● सामंजस्य

विवेक है सफलता का सोपान

विवेक जीवन का आभूषण है। अविवेकी व्यक्ति पग-पग पर गलत काम कर सकता है। विवेक से उसकी समझ सही और परिपक्व होती है। विवेक का दीया जलता रहे तो परिस्थितिजनित अंधकार अपने आप विलीन हो जाता है।

मुहम्मद साहब कुछ खलीफाओ का परीक्षण करना चाहते थे। उन्होंने एक खलीफा को बुलाकर कहा—'अमुक प्रदेश मे जाओ और प्रचार करो।' खलीफा ने मुहम्मद साहब का आदेश आदर के साथ स्वीकार किया। मुहम्मद साहब ने उससे कुछ प्रश्न किए—

मुहम्मद—तुम प्रचार करने जा रहे हो। वहा तुम्हारे सामने कोई उलझन आ गई तो क्या करोगे?

खलीफा—कुरान शरीफ मे उसका समाधान खोजूगा।

मुहम्मद—वहां समाधान नही मिला तो?

खलीफा—आपकी आज्ञा मंगाकर उसके अनुसार काम करूंगा।

मुहम्मद—मान लो, समय पर मैं नही मिला अथवा मेरी आज्ञा तुम तक नही पहुची तो?

खलीफा—तो फिर अपने विवेक से काम करूगा।

मुहम्मद साहब ने खलीफा को स्वतंत्र काम करने का निर्देश देते हुए कहा—'किस काम मे कैसी कठिनाइया उपस्थित होती हैं, कोई जान नही सकता। उनका समाधान पूछने कब-कब आओगे? आखिर तो व्यक्ति को अपने विवेक से ही काम करना होता है। तुम्हे अपने विवेक पर भरोसा है। तुम मेरी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो। जाओ और निश्चिन्त होकर काम करो।'

आवश्यक है अहं का विलय

विवेक या अविवेक की कसौटी समय पर होती है। अहकार आदमी को हर समय सताता है। साधु बनने पर भी अहं से छुटकारा नही होता। गोस्वामीजी ने तो यहा तक कह दिया—'पाप-मूल अभिमान'—सब पापो का मूल अहकार है। जब तक यह नही छूटता है, परमात्मा से साक्षात्कार नही होता।'

सूफी संत के पास एक सम्राट आया और बोला—'बाबा! परमात्मा से मिलना चाहता हू।'

सन्त—क्या तुम सचमुच परमात्मा से मिलना चाहते हो?

सम्राट—मैं बेचैन हो रहा हू।

सन्त—इसके लिए एक प्रयोग करना होगा।

सम्राट—मैं कुछ भी करने को तैयार हू।

सन्त—तुम सात दिनो तक अपनी राजधानी मे घर-घर घूमो और भीख मागो।

सम्राट—यह कुछ मुश्किल है। यहा तो मैं सबको देता हू। अपने देश की सीमा मे बाहर जाकर माग लूगा।

सन्त—तुमने कहा था, मैं कुछ भी कर सकूगा ?

सम्राट—मैं यहा का सम्राट हू।

सन्त—सम्राट हो या लाट, मैं कुछ नही जानता। परमात्मा से मिलना है तो रास्ता यही है।

सम्राट जिज्ञासु था। उसने ताज और लिहाज एक साथ छोड दिया। अपनी राजधानी मे सात दिनो तक वह घर-घर घूमकर भीख मागता रहा। इस क्रम से उसका अह चूर-चूर हो गया। अह का विगलन होते ही उसने अपने आपको देख लिया। आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन मे बहुत बडी दूरी नही होती। जो आत्मा को देख लेता है, वह परमात्मा को देख लेता है। इस बात को यो भी कहा जा सकता है—आत्म-दर्शन के बाद कोई आकाक्षा शेष रहती ही नही है। सम्राट अपना अह खोने मे सफल हो गया। उसने कृतार्थता का अनुभव किया।

अनेकान्त समाधान है

तीसरा तत्त्व है—सामजस्य। जहा कही वाद-विवाद का प्रसग उपस्थित हो, तर्कों का सहारा छोड सामजस्य का सूत्र खोजने वाला अधिकाश समस्याओ का समाधान पा लेता है। सामान्यत मनुष्य के सामने उपस्थित सौ समस्याओ मे एक-दो समस्याए ही जटिल होती हैं। उनका समाधान अनेकान्त मे है, सामजस्य मे है, सापेक्ष दृष्टि से सोचने मे है।

गुरजिएफ पहुचा हुआ सन्त था। वह घूमता-घूमता एक गाव मे पहुचा। कुछ शरारती लोग उसे गालिया देने लगे। वह खडा हो गया और शान्ति के साथ गालिया सुनने लगा। शरारत पर उतरे लोगो को यह अच्छा नही लगा। वे बोले —'खडे क्या देखते हो, उत्तर दो।' गुरजिएफ ने सौम्यता के साथ कहा—'आज नही, कल उत्तर दूगा।' वे लोग आपस मे फुसफुसाए—कैसा अजीब आदमी है। हमारी गालियो का उत्तर कल देगा। इसका अर्थ है कि यह आदमी अपने दिमाग को उत्तेजित नही होने देगा।

उत्तेजना पराजय का चिह्न है

पूज्य कालूगणी कहा करते थे—विरोधी लोगो के साथ चर्चा के प्रसग मे उत्तेजित होना सबसे पहली हार है। जो व्यक्ति समय पर शान्त रहना जानता है, वह चर्चा

मे पराजित होकर भी विजयश्री का वरण कर लेता है। वहुत कठिन साधना है उत्तेजना पर नियंत्रण पाना। चौवीस घण्टे ध्यान की साधना करने वाला एक क्षण उत्तेजना करके सव कुछ खो देता है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान के प्रयोग मे गहरे उतरते जा रहे थे। एक प्रसंग उपस्थित हुआ। वे उत्तेजित हो उठे। आत्मा से चित्त हटा। भीतर-ही-भीतर युद्ध छिडा। आवेश से आविष्ट हो उन्होंने काल्पनिक युद्ध किया और सातवी नरकभूमि के आयुष्य के दलिको का वधन कर लिया। एक क्षण ऐसा आया कि वे वापस मुडे और एक-एक कर सव नरको के वंधन तोड़ डाले। उनकी गति ऊर्ध्वारोहण की हो गई।

अनुभवी लोग यहा तक कहते है कि एक शेर या दैत्य पर नियंत्रण करना सरल है पर उत्तेजना के क्षणो मे अपने आप पर नियत्रण कर पाना वहुत वडी उपलव्धि है।

गालियो का जवाव कल दूगा

गुरजिएफ ने शरारती लोगो से कहा—'आपकी गालियों का जवाव मैं कल दूगा।' एक व्यक्ति ने पूछा—'आज उत्तर क्यो नही देते ?' गुरजिएफ वोला—'मैं अपनी कुटिया मे जाकर आप द्वारा कही गई वातो पर सोचूगा। उनकी सत्यता के वारे मे विचार करूगा। मेरे वारे मे जो कुछ कहा गया है, यदि वह सही होगा तो मैं आपके प्रति आभार ज्ञापित करूगा।'

शरारती लोगो ने कहा—'लगता है, यह पागल है। कौन कल आएगा और कौन उत्तर देगा?' वे झुंझलाकर चले गए। दूसरे दिन उनके मन का कुतूहल उनको वहां ले आया। इधर गुरजिएफ भी आया। वह उनके निकट पहुंचकर वोला—'भाई साहव! कल आप लोगों ने जो कुछ कहा, उसके लिए मैं आपका आभारी हूं। आपने मेरी आखें खोल दी। आपके द्वारा जो कुछ कहा गया, आशिक रूप मे ही सही, पर वह मेरे जीवन में है।'

ऐसा कौन कह सकता है? जो भगवान महावीर के अनेकान्त दर्शन को समझता है, वही ऐसा सामजस्य स्थापित कर सकता है। गुरजिएफ ने महावीर के सूत्रो को वहुत काम मे लिया। जैन जीवनशैली हो या अणुव्रत, वह महावीर दर्शन की आशिक अभिव्यक्ति है। अपेक्षा इस वात की है कि भगवान महावीर के सिद्धान्तो की गहराई मे उतरकर उन्हे जीवनगत करने का लक्ष्य वनाया जाए।

४१. सबहु सयाने एक मत

जैन आगमो मे तीन प्रकार की वक्तव्यता वताई गई है—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता और उभयसमय वक्तव्यता। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वसमय वक्तव्यता है। दूसरे के सिद्धान्त का प्रतिपादन परसमय वक्तव्यता है। अपने और दूसरे—दोनो के सिद्धान्त का प्रतिपादन उभयसमय वक्तव्यता है। जैनो का अपना दर्शन है। उनके लिए आयारो, सूयगडो, भगवती, ठाण उत्तरज्झयणाणि आदि आगम स्वसमय है। गीता, वेद, उपनिषद, वाइविल, कुरान, अवेस्ता आदि ग्रन्थ परसमय है। आज हमारा प्रतिपाद्य है—उभयसमय। हमे आचाराग और गीता के परिप्रेक्ष्य मे विचार करना है।

सामान्य व्यक्ति को स्वसमयविद् होना चाहिए। अपने सिद्धान्तो का तलस्पर्शी ज्ञान होने के वाद परसमय को जानना आवश्यक माना जाता है। अपने सिद्धान्तो की गहराई मे उतरे बिना ही परसमय को पढने मे पाठक भ्रान्त हो सकता है। इस दृष्टि से अपरिणत व्यक्ति को परसमय का अधिक अध्ययन नही करना चाहिए। परिपक्वता के बाद कुछ भी पढा जाए, उससे भ्रान्त होने की सभावना नही रहती। क्योकि एक विन्दु ऐसा आता है, जहा सब रास्ते मिल जाते हैं। 'सबहु सयाने एक मत' वाली वात भी इसी सत्य की परिक्रमा करती है, किन्तु अधकचरे ज्ञान के आधार पर ज्ञानी होने का दभ भरने वाले व्यक्ति कभी एकमत हो जाए, यह कठिन वात है।

निष्काम कर्म और अनासक्ति योग

भारतवर्ष मे दो सस्कृतिया साथ-साथ पल्लवित हुई हैं—श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति। इन दोनो सस्कृतियो के मान्य ग्रन्थो मे अनेक तथ्य एक समान है। गीता मे कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' फलासक्ति से मुक्त कर्म का सिद्धान्त एक दृष्टि से वहुत ऊचा सिद्धान्त है। इसके साथ किसकी असहमति हो सकती है। जैन आगमो ने कहा है—

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।
नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।

इस लोक के लिए तप न किया जाए, परलोक के लिए तप न किया जाए, कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप न किया जाए। यह निरपेक्षता का दर्शन है, निस्पृहता का दर्शन है। गीता का निष्काम कर्म और दशवैकालिक का निस्पृह तप व्यक्ति को सत्य की एक ही दिशा मे प्रस्थित करता है।

इस लोक और परलोक की आकाक्षाओ मे व्यक्ति न वधे, इतनी ही वात नही है। वह मुक्ति की आशसा से भी मुक्त रहे, '**मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम**'। यदि मुक्ति की आशसा या लालसा होगी तो मुक्ति मिलेगी नही। क्योकि वह इच्छा से नही, करनी से मिलेगी। करनी अर्थात कर्म कैसे किया जाए ? गीता मे वताया है—

योगस्थ कुरु कर्माणि, संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समं भूत्वा, समत्व योग उच्यते।।

अर्जुन! तुम कर्म करो, योगस्थ होकर कर्म करो, सव प्रकार के संग को छोडकर कर्म करो। कर्म मे सफलता मिलती है या असफलता, इस द्विधा से मुक्त होकर कर्म करो। जिसके मन मे द्विधा समाप्त हो जाती है, वह हर स्थिति मे सम रहता है। इस समत्व का ही नाम योग है।

जैन आगम कहते है कि कर्म करो, पर कैसे ? **नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए**—एक मात्र निर्जरा के उद्देश्य से प्रेरित होकर कर्म करो। एक शब्द आता है—अत्तहियट्ठयाए। अर्थात् आत्महितार्थ। साधक के लिए सवसे वडा आत्महित-कर्म निर्जरा है। इस विन्दु पर वैदिक दर्शन और जैन दर्शन—दोनो ने निस्पृह कर्म का सिद्धान्त दिया है।

गीता का रहस्य

गाधीजी के पास एक व्यक्ति आया और वोला—'आपने गीता का अनुवाद किया है। कृपा कर वताए कि गीता का रहस्य क्या है ?' गाधी विलक्षण व्यक्ति थे। उन्होने कहा—'रहस्य की वात छोडो। कुछ काम करो।' वह व्यक्ति काम करने के लिए तैयार हो गया। गांधी ने कहा—'देखो, सामने जो ईंटो का ढेर पडा है, वहा जाओ और ईंटो की गिनती करो।'

वह व्यक्ति ईंटें गिनने लगा। एक दिन वीता, दो दिन वीते, तीन दिन वीते, वह थक गया। उसने सोचा—'आया था गीता का रहस्य पूछने और फस गया कहा ?' उसकी थकान वहुत अधिक वढ गई तो वह गाधीजी के पास गया। गाधीजी उसका चेहरा देखकर ही समझ गए। उन्होने पूछा—'थक गए क्या ?' वह वोला—

'थकता नही तो क्या होता, आपने काम ही ऐसा दिया।' गाधीजी बोले—'यह काम नही, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।' आगन्तुक कुछ नही समझा। गाधीजी ने उसको समझाते हुए कहा—'यह निष्काम कर्म है, यही गीता का रहस्य है।'

खुदा के लिए हजामत

एक फकीर घूमता-फिरता नाई के पास पहुच गया। उसने नाई से कहा—'हजामत करो।' नाई ने पूछा—'किसके लिए?' फकीर बोला—'खुदा के लिए।' नाई ने सब काम छोड फकीर की हजामत कर दी। फकीर उसे पैसा देने लगा। उसने नही लिया। फकीर ने कारण पूछा तो नाई बोला—'खुदा के नाम मे हजामत की, फिर पैसा कैसा?' आग्रह करने पर भी उसने पैसा नही लिया। फकीर को नाई से नया बोध-पाठ मिला। वह सोचने लगा—'हमने खुदा के लिए घर छोडा है, फिर हम कामनाओ के जगल मे क्यो उलझें?' यह छोटा-सा प्रसग कितना बडा बोधपाठ दे रहा है। काश! ऐसे प्रसगो से कोई कुछ सीख सके।

अनमोल मूल्य

आयारो और गीता मे जीवन के अनमोल मूल्य भरे पडे है। ऐसे ग्रन्थ-रत्नो को वार-वार पढा जाए, उन पर मनन किया जाए तो जीवन को नयी रोशनी मिल सकती है। आयारो मे निर्ग्रन्थ को परिभाषित करते हुए कहा गया है—सीउसिणच्चाई से णिग्गंथे—निर्ग्रन्थ वह होता है, जो शीत और उष्ण को सहन कर लेता है। शीत और उष्ण का अर्थ है—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिया। दूसरे शब्दो मे कहा जाए तो सुख और दुख।

गीता कहती है कि शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दुख—इन द्वन्द्वो मे जो सम रहता है, वह व्यक्ति आसक्ति से ऊपर उठ सकता है। गीता की इस भावना का प्रतिनिधि पद्य है—

सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो।
शीतोष्णसुखदुखेषु सम सगविवर्जित ॥

शत्रु के प्रति शत्रुता का भाव न रखना उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना बहुत ऊची साधना है। 'आयारो' मे बताया है—जागरवेरोवरए वीरे—वीर वह होता है, जो जागृत रहता है और किसी के प्रति शत्रुता का भाव नही रखता। महात्मा गाधी कहा करते थे—अग्रेजो के साथ हमारी कोई दुश्मनी नही है। उन्होने हमारे देश पर कब्जा कर रखा है, उसे हटाकर देश को स्वतन्त्र बनाना है। गाधीजी का यह आदर्श उनके आध्यात्मिक सस्कारो की उपज है।

दुश्मन के साथ दोस्ती

दुश्मन के साथ दोस्ती का व्यवहार करना बहुत ऊचा मूल्य है । सामान्यत दुश्मन को देखते ही उसके प्रति घृणा और द्वेप के भाव सक्रिय हो जाते हैं । पर जैन तीर्थंकर इससे भी आगे की बात करते हैं । इसका अभिमत यह है कि किसी को शत्रु मानो ही मत । यदि तुम्हारा कोई शत्रु है तो वह तुम्हारी अपनी आत्मा है । 'अप्पा मित्तममित्त च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ'—सत्प्रवृत्ति की ओर प्रस्थित आत्मा मित्र है और दुष्प्रवृत्ति की ओर प्रस्थित आत्मा शत्रु है । शत्रु और मित्र की यह पहचान जितनी नयी है, उतनी ही विलक्षण है । यह जैन दर्शन की मौलिक देन है ।

कानपुर प्रवास के समय एक क्रिश्चियन पादरी प्रवचन सुनने आए । प्रवचन उन्हे कैसा लगा, पता नही । पर उन्होने प्रशसा के पुल बांध दिए । बात-ही-बात मे उन्होंने पूछा—'आचार्यजी ! आपने बाइबिल पढी या नही ?' मैंने कहा—'हमने बाइबिल देखी है । पूरी तो नही पढी, बीच-बीच से देखी अवश्य है ।' मेरी बात सुन वे बोले—'आचार्यजी ! आप एक बार पूरी बाइबिल पढ़िए । ससार भर के ग्रन्थो मे यह श्रेष्ठ है । इसमे ऐसी बात लिखी है, जो कही मिल नही सकती ।'

मैंने पूछा—'ऐसी कौन-सी बात है ?' वे बोले—'प्रभु ईशु ने कहा है कि दोस्तो के साथ दोस्ती करो, दुश्मनो के साथ भी दोस्ती करो । कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत लगाता है तो दूसरा भी उसके सामने कर दो ।' बात अच्छी है, पर इससे अच्छी कोई है ही नही, ऐसा ऐकान्तिक आग्रह क्यो हो ? जहा भी अच्छाई मिले, हम उसे स्वीकार करें । इस दृष्टि से मैंने उनसे कहा—'आपका कथन ठीक है । पर हम यह भी समझें कि इससे बढकर भी कुछ बाते हो सकती है ।'

किसी को दुश्मन मत मानो

पादरी को मेरे कथन पर भरोसा नही हुआ । उन्होंने कहा—'इससे बढकर कोई बात हो नही सकती ।' मुझे न किसी पर आक्षेप करना था और न किसी की न्यूनता बतानी थी । किन्तु वे अपने मन्तव्य से एक इच भी इधर-उधर नही हो रहे थे । तब मैंने कहा—'भगवान महावीर ने कहा है—किसी को अपना दुश्मन मानो ही मत । दुश्मन है तो अपनी आत्मा है । अन्य किसी के प्रति दुश्मनी की कल्पना ही मत करो ।' मेरी बात सुन पादरी देखते ही रह गए ।

मैंने उनसे कहा—'प्रभु ईशु हो या भगवान महावीर । और भी अनेक महापुरुष हुए है । उन्होंने बहुत ऊंचे सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है । किन्तु हम थोड़ी-सी गंभीरता के साथ देखें कि कितने अनुयायी ऐसे हैं, जो अपने आदर्श महापुरुषो के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो पर अमल करते हैं ? कितने ईसाई ऐसे है, जो अपने दुश्मन के साथ दोस्ती का व्यवहार करते है ? क्या आप नही जानते

है कि विश्वयुद्ध का सचालन किसने किया था ? कितने जैन ऐसे है, जो किसी को दुश्मन नही मानते ? मुझे ऐसा लगता है कि अनुयायी लोग सिद्धान्तो की दुहाई अधिक देते हैं और उनका आचरण कम करते है। वे उपासना अधिक करते हैं, जीवन शुद्धि की वात भूल जाते हैं। धार्मिक क्षेत्र मे वढ रही समस्याओ का एक प्रमुख कारण यह भी है। समस्याओ का समाधान कही ऊपर से नही आएगा। प्रत्येक धर्म के अनुयायियो का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे महापुरुषो द्वारा प्रतिपादित जीवन-मूल्यो को जीने की दिशा मे सचेप्ट वनें।

४२. आत्मोदय होता है आस्था, ज्ञान और पुरुषार्थ से

ससार के लोगो को मुख्य रूप से दो श्रेणियो मे बाटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी मे वे व्यक्ति आते है, जो आत्मा और शरीर को भिन्न मानते है। आत्मान्य पुद्गलश्चान्य —इस सिद्धात के आधार पर वे शरीर को भोगायतन मानते हैं, ससारी आत्मा का आश्रय मानते हैं। ऐसे लोग स्वय को आत्मवादी समझते हैं। ये आत्मोदय मे विश्वास करते हैं और ऐसा पुरुषार्थ भी करते हैं, जिससे आत्मविकास की सभावनाए उजागर होती हैं।

दूसरी श्रेणी मे वे लोग आते हैं, जो आत्मा और शरीर को एक मानते है। पांच भूत मिलते है, तव शरीर वनता है और यही आत्मा है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नही है। न उसका पूर्व जन्म था, न पुनर्जन्म होगा। पाच भूतो मे कोई तत्त्व इधर-उधर होता है, इसी का नाम मृत्यु है। इन अनात्मवादी लोगो को कभी आत्मोदय की चिन्ता नही होती। ग्रामो नास्ति कुत सीमा—ग्राम ही नही है तो सीमा कहा होगी ? जब आत्मा ही नही है, तो उसके उदय या विकास की चिन्ता कौन करेगा ? ऐसे लोग नास्तिक कहलाते हैं।

आत्मा और शरीर की भिन्नता

अपने आपको आस्तिक या आत्मवादी मानने वाले भी सोचे कि उनको आत्मा नामक तत्त्व पर पूरा भरोसा है क्या ? यदि मेरे कहने से कोई आत्मा को स्वीकार करेगा तो बात वनेगी नही। गुरु कब-कब किसी के साथ रहेगे। आखिर तो अपनी आत्मा का अनुभव काम आएगा। किसी तत्त्व को सुना जाता है, पढा जाता है, पर जब तक अनुभव नही किया जाता, उस पर विश्वास नही जमता। आत्मोदय का लक्ष्य उसी का हो सकता है, जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। इस सचाई को समझाने के लिए कुछ स्थूल उदाहरणो का सहारा लिया जा सकता है। शरीर पर कपडा पहना जाता है। शरीर और कपडा एक हैं या दो ? चमड़ी और शरीर एक है या दो ? कपडे को

उतारा जाता है, बदला जाता है। क्योकि वह शरीर से भिन्न है। कपडे की तरह चमडी भी शरीर से अलग होती है। स्किन डोनेशन तभी हो सकता है, जब चमडी को शरीर से अलग उतारने की स्थिति हो। ये उदाहरण बहुत स्थूल है। शरीर और आत्मा को सामान्यत अलग करके दिखाना सभव नही है। फिर भी यह निश्चित है कि आत्मा और शरीर एक नही है। दोनो का अलग-अलग अस्तित्व है और वस्त्र-परिवर्तन की तरह शरीर का भी परिवर्तन होता है।

इन्द्रभूति गौतम का सन्देह

भगवान महावीर केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद मध्यम पावापुरी पधारे। वहा सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट यज्ञ का आयोजन किया था। उस आयोजन की सपूर्ति के लिए वहा इन्द्रभूति आदि ग्यारह महापण्डित आए हुए थे। वे वेदो के ज्ञाता थे। गौतम गोत्रीय इद्रभूति भगवान को पराजित करने के लिए अपने शिष्यो के साथ भगवान के समवसरण मे आए। वेदविद् होने पर भी इन्द्रभूति जीव के बारे मे सदिग्ध थे। उन्होंने अपने सन्देह को प्रकट नही किया। भगवान से उनका सामना हुआ तो भगवान ने उनको नामोल्लेखपूर्वक सम्बोधित किया। इन्द्रभूति ने सोचा—मेरा नाम प्रसिद्ध है। नाम बताने मात्र से मैं इन्हे सर्वज्ञ नही मान सकता। यदि ये मेरे मन के सदेह को प्रकट कर दें तो मैं इनको सर्वज्ञ मान लूगा। भगवान ने दूसरे ही क्षण कहा—'गौतम! तुम्हारे मन मे सन्देह है कि जीव है या नही?' भगवान ने इन्द्रभूति के सन्देह को खोलकर रख दिया। इन्द्रभूति हतप्रभ-से रह गए। अब महावीर की सर्वज्ञता पर सन्देह करने का कोई कारण नही था।

ऐसे हुआ गौतम का समाधान

भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गौतम के सन्देह का निराकरण किया। इस प्रसग मे एक अनुश्रुति है कि देव, दानव और मनुष्य ब्रह्मा के पास गए और बोले—'हमे कल्याण का रास्ता बताओ।' ब्रह्मा ने कहा—द द द इति त्रय दकारा। यह वेदो का मत्र है। द अर्थात दमन, द अर्थात् दया और द अर्थात् दान। कहा जाता है कि एक शब्द के द्वारा ब्रह्मा ने प्रतिबोध दिया और तीनो समझ गए। देवो ने समझा—हम विलासी बहुत है। इसलिए दमन की बात कही गई है। दानवो ने सोचा—हम क्रूर है, इसलिए हमे दया की बात कही है। मनुष्यो ने समझा—हम आसक्त है, सग्रह बहुत करते है, इसलिए हमारे लिए दान की बात है।

भगवान महावीर ने इन्द्रभूति से कहा 'तुम्हारा यह वेदमत्र जीव के अस्तित्व को स्वीकार करता है। वेदो मे द का अर्थ है दमन, दया और दान। जीव के बिना दमन कौन करेगा? जीव नही है तो दया कौन करेगा? किसकी करेगा? जीव का अस्वीकार करें तो दान कौन देगा? और किसको देगा?

इन्द्रभूति चार वेदो और चौदह विद्याओ के पारगामी विद्वान थे । भगवान के थोडे से शब्दो ने उनके सन्देह को धो-पोंछकर साफ कर दिया । वे अब तक जिनको ऐन्द्रजालिक या मायावी मानकर इन्द्रजाल का भडाफोड करना चाहते थे, वे उनके चरणो मे झुक गए और अपने पाच सौ शिष्यो के साथ उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया ।

शरीर को आत्मा मानने से कष्ट

मुनि के लिए एक विशेषण आता है—परीपहजयी । प्रश्न है कि परीषहो को सहन कौन करता है ? आत्मा या शरीर ? सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि परीषह है । इनका प्रभाव शरीर पर होता है । **वर्षातपाभ्यां किं व्योम्न** —वर्षा और धूप से आकाश की स्थिति मे कोई अन्तर नही होता । निन्दा-प्रशसा और मान-अपमान से आत्मा का कोई अहित नहीं होता । यह बात समझ मे आ जाए तो परीपह सहन करने मे कष्टानुभूति नही होती । कष्ट की अनुभूति तब होती है, जब शरीर को ही आत्मा मान लिया जाता है ।

लक्ष्य की दिशा मे गति आवश्यक

शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुभव होने से ही आत्मविकास की दिशा मे पग उठते है । यह अनुभव किसी को प्रारम्भ मे ही हो जाता है और किसी को विलम्ब से होता है । किसी को एक झटके से हो जाता है और किसी को धीरे-धीरे होता है । व्यक्ति विलम्ब से ही चले, पर चलता रहे तो मजिल तक पहुच जाता है । चीटी की गति बहुत धीमी होती है । पर वह निरन्तर चलती हुई सैंकडो योजनो का रास्ता तय कर लेती है । इधर गरुड बहुत तीव्रगामी पक्षी होता है, पर वह आलस्य मे सुस्ताता रहता है और एक कदम भी नही चल पाता । कहा भी है—

गच्छन् पिपीलिका याति योजनाना शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेक न गच्छति ।।

गतिशीलता की स्थिति मे भी लक्ष्यहीनता कार्यसिद्धि मे बाधक बन जाती है । घाणी का बैल दिन-रात चलता है । उसकी आख पर पट्टी बधी हुई होती हैं । पट्टी बाधने का उद्देश्य कुछ दूसरा है । पर मनुष्य की उस बैल के साथ तुलना की जाए तो लक्ष्य-निर्धारण के बिना चलने और विवेक की आख को बन्द कर चलने का कोई अर्थ नही रहता । इसलिए पहले लक्ष्य की ओर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है । मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना और उसके स्वरूप का बोध करना ।

भटकने का खतरा

आत्मा है। वह ज्ञानदर्शनमय है। इस निश्चय के बाद भी व्यक्ति कभी-कभी भटक जाता है। भटकन का मूल कारण है—मोह। आगम कहते है—

दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे, नेआउय दट्ठुमदट्ठुमेव।

अधेरी गुफा मे जिसका दीपक बुझ गया हो उसकी भाति अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नही देखता।

भटकन के क्षणो मे व्यक्ति सोचता कुछ है और हो जाता कुछ है। प्रसिद्ध नाटककार जार्ज वर्नाड शा के पास एक रूपसी स्त्री आई। उसने शादी का प्रस्ताव रखा। वर्नाड शा ने पूछा—'मेरे जैसे कुरूप के साथ शादी का कारण ?' स्त्री बोली—'आप बुद्धिमान है और मैं सुन्दर हू। आप जैसी बुद्धिमान और मेरे जैसी सुन्दर सतान की आकाक्षा से प्रेरित होकर मैंने यह प्रस्ताव रखा है। वर्नाड शा मुस्कराते हुए बोले—'बहन ! उल्टा हो गया तो ? उसमे मेरे जैसा रूप और तेरे जैसी बुद्धि आ गई तो ?'

अपेक्षा इस बात की है कि मनुष्य प्रतिक्षण सावधान रहे। वह एक लक्ष्य का निर्धारण करे। वहा तक पहुचने के लिए मार्ग का चुनाव करे और स्वीकृत मार्ग पर निष्ठा से चलता रहे। आज नही तो कल, कल नही तो परसो मजिल अवश्य मिलेगी। कुछ दूर चलने पर भी मजिल दिखाई न दे तो भी लौटने की बात न सोचे। सही ढग से किया गया प्रयत्न कभी निष्फल नही होता। इस आस्था के साथ सही दिशा मे प्रस्थान हो और जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो, गति मे शलथता न आने दे। सम्यक् आस्था, सम्यक् अवबोध और सम्यक् पुरुषार्थ का योग आत्मोदय जैसे महान लक्ष्य को साधने मे सक्षम है।

४३. साधना कब और कहां ?

कब और कहा ? इस प्रश्न का सम्बन्ध केवल साधना से ही नही, प्रकृति मात्र से है। खाना, सोना, पढना, लिखना, प्रवचन करना, भिक्षा करना आदि जितनी प्रवृत्तिया है, उनको काल और क्षेत्र की सीमाओ मे बाधे बिना व्यवस्था नही बैठ सकती। साधुओं के लिए भोजन का समय है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक। समय की इस मुक्तता को ध्यान मे रख जब इच्छा हो तभी भिक्षा के लिए जाना प्रयोजन की सिद्धि नही करता। इस दृष्टि से कहा गया है—

कालेण णिक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता काले काल समायरे ॥

मुनि उचित समय मे बाहर जाए और उचित समय पर लौट आए। वह अकाल का वर्जन कर जो काम जिस समय करने का होता है, उसी समय करे।

द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता सफलता का आधार है। जो व्यक्ति उनकी उपेक्षा करके चलता है, वह अपने पुरुषार्थ का सही परिणाम नही पा सकता। असमय मे किया गया कोई भी काम सफल नही होता, फिर साधना जैसा महत्त्वपूर्ण उपक्रम फलीभूत कैसे हो सकता है ? यह चिन्तन का एक कोण है।

साधना के लिए प्रतिबद्धता अनावश्यक

चिन्तन का दूसरा कोण समयबद्ध और स्थानबद्ध साधना के पक्ष मे नही है। एक साधक से पूछा गया कि उसकी साधना का क्रम क्या है ? उसने कहा—'भूख लगती है तो भोजन कर लेता हू। नीद आती है तो सो जाता हू। नीद टूटती है तो उठकर ध्यान कर लेता हू।' कुछ लोगो को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। क्योकि वे सोचते थे कि साधना का बधा-बधाया क्रम होता है। इच्छावृत्तिता की बात उनके जीवन मे होती है, जो अपने जीवन को नियमो या सकल्पो से बाधते नही। उन्होने प्रश्नायित आखो से साधक की ओर देखा। उसने कहा—'साधना

के लिए समय और स्थान की खोज एक बहाना है। 'नाचू कैसे आगन टेढा'— इस मनोवृत्ति का प्रतीक है।'

साधनाशील व्यक्ति कही रुकता नही है। वह अकेला हो या भीड मे, गाव मे हो या जगल मे, घर मे हो या बाजार मे, अपने प्रति जागरूक रहता है। भगवान महावीर ने कहा है—'से गामे वा रण्णे वा, दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा।' ग्राम या जगल, दिन या रात, एकाकीपन या समूह, सुप्तावस्था या जागरणावस्था, कभी साधना मे बाधक नही बनते। बाधक बनती है चचलता। एकान्त मे रहने पर भी चित्तवृत्ति चचल हो तो ध्यान का प्रयोग सफल नही हो सकता।

अति एकान्त के खतरे

साधना के प्रारम्भकाल मे समय और स्थान की अनुकूलता का उपयोग है। जीवन भर एकान्त मे रहनेवाला अपनी कसौटी कैसे करेगा ? एक गुरु ने अपने नये शिष्य को एकान्त मे रखा। न किसी से मिलना, न बातचीत, न सगीत, न स्वाध्याय। गुरु का चिन्तन था कि ये सब स्थितिया सस्कारो को विकृत बना सकती हैं। बहुत वर्षो तक यह क्रम चला। गुरु को विश्वास हो गया कि इसके जीवन पर ससार की किसी विकृति का प्रभाव नही है। यह अपने लक्ष्य की दिशा मे आगे बढ सकेगा। इस विश्वास के आधार पर शिष्य को एकान्त से छुट्टी मिल गई।

शिष्य पहली बार गाव मे गया। चारो ओर बिखरे जनसैलाब के बीच उसने एक जुलूस देखा। उसके मन मे जिज्ञासा उभरी। उसने पूछा—'यह क्या है ?' उसे बताया गया कि यह वर-वधू का जुलूस है। उसका दूसरा प्रश्न था—'वर-वधू क्या होता है ?' वर-वधू की बात समझाने के लिए उसको विवाह, सन्तान, परिवार आदि के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ समझाया गया। शिष्य के लिए वह सब कुछ नया था। उसके दिमाग मे वे ही बातें घूमने लगी।

मध्याह्न मे वह आश्रम के बगीचे मे एक वृक्ष के नीचे सो रहा था। उसके निकट ही एक गड्ढा था। उसे थोडी-थोडी नीद आई। उस समय उसने सपना देखा। प्रातःकाल का वही दृश्य उसकी आखो के सामने आ गया। कुछ देर वह उसी को देखता रहा। परदा उठा। एक दूसरा सीन सामने था। उसने देखा कि उसकी शादी हो गई। उसके बच्चा हो गया। थोडी देर बाद एक बच्चा और हो गया। पत्नी बोली—'थोडा आगे खिसको। बच्चो को सुलाना है।' पत्नी के निर्देशानुसार वह नीद मे ही आगे खिसका तो गड्ढे मे गिर पडा। उसकी नीद खुली। वह चिल्लाया। आश्रम से कुछ व्यक्ति दौडकर आए। उसे गड्ढे से बाहर निकालकर पूछा 'क्या हुआ ?' वह बोला—

सपनै केरी सुन्दरी ले चाली अन्ध-कूप।
'खेम' खलक की कहा गति जाहे मिली तद्रूप॥

आज सपने मे मुझे स्त्री मिली, उसके कारण मैं गड्ढे मे गिर पड़ा। स्वप्न की स्त्री मनुष्य को इतना नीचे ले जा सकती है तो सच्ची स्त्री क्या करती होगी ? पता नही वह आदमी को कहा ले जाएगी ?

साधना के क्षेत्र में आग्रह न हो

इस घटना से दो वातें फलित होती हैं—

१ प्रारम्भ मे मिला हुआ पूर्ण एकान्त विकास मे वाधक वनता है। वच्चे को जन्म के साथ ही पूरी तरह से अकेला रखा जाए तो उसके वहरे और गूगे होने की सभावना वढ़ जाती है। सामूहिक जीवन का अनुभव तो उसके पास हो ही नही सकता।

२. लम्बे समय तक पूर्ण एकान्त मे रहने के वाद भीड से जुडने वाला व्यक्ति सफल नही हो सकता। उसके लिए संकुल वातावरण मे जीना मुश्किल हो जाता है। उसके परिणाम वहुत सुखद नही आते।

इन निष्कर्षो के आधार पर यह माना जा सकता है कि साधना को लेकर किसी प्रकार का आग्रह नही होना चाहिए। एकागी व्यक्ति अधूरा होता है। मेरी यह आकाक्षा है कि प्रत्येक साधक सर्वांगीण वने। वह एकात मे रहे, समूह मे भी रहे। एकान्त मे ही साधना हो सकती है अथवा समूह ही साधना की कसौटी है, इन दोनो ऐकान्तिकताओ से वचकर ऐसा मार्ग खोजना चाहिए, जो साधना के उपयुक्त वातावरण की वकालत करता हुआ भी उसे व्यक्ति के जीवन से जोड़े।

ध्यान ही साधना नही है

साधना का स्वरूप क्या है ? कुछ लोग ध्यान को साधना मानते हैं। कुछ व्यक्तियो की अवधारणा मे तपस्या ही साधना है। कुछ लोग स्वाध्याय, जप आदि मे साधना का दर्शन करते है तो कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो सेवा को साधना के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते है। मेरा अभिमत इन मतव्यो से कुछ भिन्न है। मैं यह मानता हू कि एकागी दृष्टि से की जाने वाली साधना अधूरी होती है। एक व्यक्ति ध्यान करता है। ध्यान करना अच्छी वात है। पर स्वाध्याय के विना ध्यान मे नया विकास कैसे होगा ? इसी प्रकार केवल जप या केवल स्वाध्याय के द्वारा अन्तर्दृष्टि का जागरण कैसे होगा ?

रुचिभेद की वात को मैं अस्वीकार नही करता। रुचि के आधार पर मुख्यता और गौणता की स्थिति को मान्यता दी जा सकती है। पर किसी एक अग को पकडकर अन्य सभी अगो मे निरपेक्ष हो जाना, वडे लाभ से वचित होना है। ध्यान

साधना है तो स्वाध्याय, जप, पदयात्रा, प्रवचन, जनसपर्क, सेवा आदि प्रवृत्तिया भी साधना है। अपेक्षा एक ही है कि इन सब प्रवृत्तियो के पीछे साधना का दृष्टिकोण रहे। दृष्टिकोण सम्यक् न हो तो ध्यान को साधना मानने का आधार भी लडखडा जाता है।

राग-द्वेप मुक्त क्षणो मे होती है साधना

भगवान महावीर ने कभी नही कहा कि ध्यान ही साधना है अथवा अमुक प्रवृत्ति ही साधना है। उनकी साधना का स्वरूप है—राग और द्वेप से मुक्त होकर जीना। कितनी व्यापक परिभाषा है साधना की। साधना की प्रक्रिया सरल हो सकती है, जटिल भी हो सकती है। पर उसमे चापलूसी नही चल सकती, राग-द्वेप का मिश्रण नही चल सकता।

एक साधक किसी श्रद्धालु भक्त के घर गया और बोला—'मैं यहा रहकर चार महीनो तक साधना करना चाहता हू। क्या तुम मेरी प्रवृत्ति का भार वहन कर सकते हो ?' भक्त ने पूछा—'आपको क्या चाहिए ?' साधक बोला—'ठहरने के लिए एक कमरा और खाने के लिए भोजन।' भक्त ने कहा—'आपकी इतनी थोडी-सी अपेक्षाओ की पूर्ति मुश्किल नही है। मैं ऐसा अवसर पाकर अपना सौभाग्य समझूगा। पर यह तभी सभव है, जब आप मेरी प्रवृत्ति का भार न ढोए। आपने किसी भी प्रसग मे मेरी चिन्ता की तो यहा रहना कठिन हो जाएगा।'

साधक ने साधना प्रारम्भ कर दी। ढाई महीने का समय निर्विघ्न पूरा हो गया। एक दिन साधक नदी पर स्नान करने गया। उसने वहा अपने मेजवान का घोडा बधा हुआ देखा। वह घोडा पहले ही दिन उसके घर से चोरी चला गया था। साधक ने अविलम्ब यह सूचना अपने मेजवान तक पहुचानी चाही। पर उसे उसकी शर्त याद आ गई। वह घर गया और बोला—'मैं नदी पर स्नान करने गया था। लौटने की हडबडी मे अपनी कौपीन वही भूल आया। उसे लेने वापस जाना पडेगा।'

साधक की बात सुन मेजवान ने कहा—'आप इतनी दूर जाकर क्या करेंगे ? नौकर कौपीन ले आएगा।' साधक तो यही चाहता था। नौकर गया। उसने देखा नदी के तट पर उसके मालिक का चुराया हुआ घोडा बधा हुआ है और उसके पास ही साधक की कौपीन पडी है। नौकर ने कौपीन उठाई, घोडा खोला और उसे साथ लेकर घर पहुच गया।

मेजवान घोडा देखते ही समझ गया कि बात कौपीन की नही, घोडे की है। साधक के मन मे मेरे प्रति राग जागा है। उसने साधक को वहा से छुट्टी कर दी। साधक अपनी साधना मे ही सलग्न रहे और राग-द्वेपमुक्त क्षणो मे जीने का अभ्यास करे तो उसके लिए साधना का क्षेत्र आगे-से-आगे प्रशस्त होता जाता है।

४४. अवधूत का दर्शन और एक विलक्षण अवधूत

'आयारो' के एक अध्ययन का नाम है 'धुत'। धुत का अर्थ है प्रकपित। कर्मो को प्रकपित कर पृथक् करना साधक का उद्देश्य होता है। कर्मो को प्रकपित करने के लिए इन्द्रियो और मन को समाहित रखना जरूरी है। समाधान का सूत्र अनासक्ति मे है। अनासक्ति चैतसिक चचलता को कम करती है। इससे चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है। इसे अवधूत का दर्शन कहा गया है, समता का दर्शन या कुडलिनी जागरण का दर्शन कहा गया है।

अवधूत वह होता है, जो अपनी कामनाओ एवं वासनाओ को धुन डालता है, प्रकपित कर लेता है। अवधूत के लिए एक शब्द आता है—औघड। औघडो का भी एक सम्प्रदाय है। उनकी साधना मे तत्रविद्या के प्रयोगो पर वल दिया गया है। यह विचित्र प्रकार का सन्यास है। कहा जाता है कि छीट की भात नही होती और सन्यासी की जात नही होती। छीट के प्रकारो की गणना नही है, वैसे ही सन्यासियो के साधनाक्रम भी किसी सीमा मे वधे हुए नही है। औघड़ो के लिए तो यहा तक कहा गया है कि औघड उघाडा नाचै। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अवधूतो मे नग्न रहने की परम्परा भी है।

वास्तव मे सन्यास वेशभूषा मे अटकता भी नही है। किन्तु आज संन्यासी-जीवन मे अनेक प्रकार की विकृतियो का प्रवेश हो गया है। आयारो का धुताध्ययन विकृतियो के शोधन की प्रक्रिया वताता है। उसके अनुसार अवधूत वह है, जिसने काम, क्रोध, मद, लोभ आदि दुष्प्रवृत्तियो को प्रकपित कर दिया, अपने जीवन मे अलग कर दिया। जिसके भीतर कामनाए और वासनाए जीवित है, वह केवल ऊपर की वेशभूषा के आधार पर अवधूत नही वन सकता।

अवधूत करते है वलिदान

चीनी यात्री ह्वेनसाग आदि नालदा मे अध्ययन करने आए। उन्होने पूरे मनोयोग के साथ अध्ययन किया। शिक्षा पूरी होने के वाद उन्हे स्वदेश लौटना था। नालन्दा से चीन पहुचने के लिए समुद्र पार करना पडता था। ह्वेनसाग आदि ने नौका की व्यवस्था की। उसमे मूर्तिया, पुस्तकें आदि रखी और वे स्वयं आरूढ

हो गए। मार्ग मे तूफान आ गया। समुद्री लहरो मे नौका डगमगाने लगी। मल्लाह ने कहा—'नौका हल्की करो। अन्यथा इसके डूबने का खतरा है।' सुझाव आया कि मूर्तियो और ग्रन्थो को समुद्र मे डाल दिया जाए। ह्वेनसांग ने इस सुझाव का प्रतिवाद करते हुए कहा—'ग्रन्थो को समुद्र मे डाल देंगे तो हमारा सारा श्रम व्यर्थ हो जाएगा। हम स्वय डूब सकते हैं, पर अपने ग्रन्थो को नही डुबो सकते।'

नौका पर सवार यात्रियो ने परामर्श किया। दो विद्यार्थी समुद्र मे कूद गए। जो शेष रहे, वे ग्रन्थ आदि के साथ चीन पहुच गए। विद्या और संस्कृति की सुरक्षा के लिए इतना बलिदान अवधूत के बिना कौन कर सकता है?

विलक्षण अवधूत थे आचार्य भिक्षु

शिक्षा जीवन का एक लक्ष्य है। साधना जीवन का दूसरा लक्ष्य है। सेवा जीवन का तीसरा लक्ष्य है और भी बहुत लक्ष्य हैं। उन लक्ष्यो तक पहुचने के लिए कुछ लोगो को अवधूत बनना होगा। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समर्पित होना होगा। अपने आपको खपाने की मनोवृत्ति के बिना न शिक्षा की बात सार्थक हो सकती है और न साधना की। व्याकरण के विद्यार्थियो को कहा जाता है—

खान पान सब ही तजै, निश्चै माडै मरण।
घोची पूलि करतो रहै, जद आवै व्याकरण॥

जब शिक्षा के लिए जीवन खपाने की बात है तो साधना ऐसे होगी ही कैसे? आचार्य भिक्षु धर्म के पहुचे हुए साधक थे। उनके लिए कहा जाता है—'मरण धार सुध मग लियो, कमी न राखी काय।' उन्होने मौत को मुट्ठी मे लेकर अपना अभियान शुरू किया। वे चले। मार्ग प्रशस्त नही था। बीच मे बडे-बडे अवरोध आए। वे रुके नही। परिस्थितियो के तेवर तीखे हुए तो उन्होंने आत्मकेन्द्रित होने की बात सोच ली, पर पीछे हटने का चिन्तन उनके मन को छू भी नही सका।

आचार्य भिक्षु विलक्षण अवधूत थे। इस दृष्टि मे दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। कुछ लोगो ने उनको गालिया दी, उनके दोष निकाले। उन्होंने कहा—'आप लोग जो कुछ कहते हैं, मुझे लिखा दें। मैं गभीरता के साथ उस पर विचार करूगा कि ये सब बातें मेरे जीवन मे हैं क्या?' उनके हाथ का लिखा हुआ एक पत्र हमारे पास है, जिसमे उन्होंने विरोधी व्यक्तियो द्वारा निकाले गए १५७ दोषों का अकन किया है।

मुझे अवगुण निकालने ही है

एक व्यक्ति आचार्य भिक्षु के पास जाकर बोला—'भीखणजी! अमुक-अमुक लोग आपके अवगुण निकाल रहे हैं।' यह बात सुन वे सहजभाव से बोले—'अवगुण निकालते हैं, डालते तो नही?' वह व्यक्ति बोला—'अवगुण निकालने ही है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'भले निकालें। कुछ अवगुण वे निकालते है, कुछ मैं

निकाल रहा हू। मुझे तो अवगुणो को निकालना ही है।'

भीखणजी का मुंह देखने से नरक

आचार्य भिक्षु देसूरी जा रहे थे। रास्ते मे घाणेराव के महाजन मिले। उन्होने पूछा—'आपका नाम क्या है?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'मेरा नाम है भीखण।' तव वे वोले—'भीखणजी तेरापथी हैं, वे आप हैं क्या?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'हां, मैं वही हू।' महाजन क्रोध करके वोले—'आपका मुह देखने से नरक मिलता है।' आचार्य भिक्षु ने पूछा—'और आपका मुख देखने से?' वे वोले—'हमारा मुह देखने वाले को स्वर्ग और मोक्ष मिलता है।'

यह वात सुन आचार्य भिक्षु ने कहा—'हम तो यह नही कहते कि किसी का मुह देखने से नरक या स्वर्ग मिलता है। पर आपके कथनानुसार मैंने आपका मुह देखा है; इसलिए मैं स्वर्ग या मोक्ष मे जाऊगा। आप लोगो ने देखा है मेरा मुह। आपके वचनो के अनुसार आपके हिस्से मे नरक आएगा।' महाजन कुछ भी कहने की स्थिति मे नही रहे।

भीखणजी की श्रद्धा और पति-वियोग

आचार्य भिक्षु पीपाड मे भिक्षा के लिए गए। एक वहन उन्हे पहचानती नही थी। वह वोली—'अमुक वहन ने भीखणजी की श्रद्धा ली और उसके पति का वियोग हो गया।' आचार्य भिक्षु ने उस वहन की वेशभूषा ध्यान से देखी और कहा– 'वहन! अवस्था तो तुम्हारी छोटी ही दिखाई देती है। तुम्हे पति का वियोग कैसे हो गया? तुम तो भीखणजी की निन्दा करती हो?' समीप खडी अन्य महिलाओ ने उसको सजग करते हुए कहा—'वाई! भीखणजी यही हैं।' यह वात सुन सकुचाती हुई वह घर के भीतर चली गई।

आचार्य भिक्षु के सामने इस प्रकार के अनेक प्रसग उपस्थित हुए। 'भिक्खु दृष्टान्त' ऐसी घटनाओ से भरा पडा है। पर वे कभी उत्तेजित नही हुए। उन्होंने किसी वात का उत्तर आवेश मे नही दिया। अपनी निन्दा और आलोचना सुनकर भी वे मुस्कराते रहे। विरोधी वातावरण को विनोद मे वदलने की कला मे वे निष्णात थे। वे हर घटना से सार खीच लेते थे। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ'- कवीर के इन वोलो मे उनका विश्वास था।

आचार्य भिक्षु ने जिस महान उद्देश्य से घर छोडा, उसे पाने के लिए सम्प्रदाय और गुरु का व्यामोह भी छोड दिया। उनके मन मे एक ही लगन थी, एक ही धुन थी कि सत्य मार्ग पर चलना है। सत्य के लिए उन्होने सुख छोडा, सुविधा छोडी, सघर्ष मोल लिये और जुझारू वृत्ति मे जूझते रहे। ऐसे धुनी और निस्पृह व्यक्ति अवधूत के दर्शन को समझकर सच्चे अवधूत वन सकते हैं।

४५. विश्व-शान्ति का सपना : अहिंसा और अनेकान्त की आखें

मनुष्य का जीवन द्वन्द्वात्मक है। वह दो विरोधी चेतनाओ को जीता है। शान्ति उसे अभीष्ट है फिर भी वह अशान्ति को न्योतता है। अहिंसा की वह दुहाई देता है, फिर भी विश्वास हिंसा मे रखता है। उसके मस्तिष्क मे अहिंसा और हिंसा—दोनो के स्रोत है। चिन्ता का विषय तब होता है, जब अहिंसा का स्रोत सूखने लगता है और हिंसा की सक्रियता बढती है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता हो सकती है, पर वह साध्य नही है। समस्या वही उलझती है जब उसे साध्य मान लिया जाता है।

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व शाश्वत है। अहिंसा को जीवन का सच मानने पर भी हिंसा की प्रतिष्ठा मे सलग्न व्यक्ति इस द्वन्द्व को चिरजीवी बनाते हैं। अहिंसा की अलौकिक सत्ता को स्वीकार करने पर भी हिंसा की शरण मे जाने वाले व्यक्ति इस द्वन्द्व को बढाते है। यह एक प्रकार की सस्कारगत जडता है। इसे तोडने के लिए अनेकान्त की कुदाली को हाथ मे लेना होगा। अन्यथा जीवन मे हिंसा की पकड बढती रहेगी और उसके साये मे अशान्ति पलती रहेगी।

सचाई या मिथ ?

भगवान महावीर का दर्शन अपरिग्रह और अहिंसा के तटबन्धो मे प्रवाहित हुआ। परिग्रह और हिंसा को उन्होंने कभी सहमति नही दी। उनके युग मे ऐसे सन्यासी भी थे जो परिग्रह मे जुडे हुए थे और हिंसा के पक्षधर थे। परिग्रह और हिंसा की सुविधाभोगी सस्कृति लोक-जीवन के अनुकूल थी। लाखो-करोडो लोग उस सस्कृति को अपना जीवन-दर्शन मानकर चलते थे। किन्तु महावीर एक क्षण के लिए भी अपने दर्शन के प्रति अनास्थाशील नही हुए। उन्होंने हिंसा और अहिंसा के कारणो की मीमासा की, हिंसा के स्रोत को गतिशील रखनेवाली कारण-शृखला का

प्रतिपादन किया और अहिंसा को जीवनगत बनाने के लिए कुछ आलम्बन प्रस्तुत किए।

भगवान महावीर की अहिंसा का रूप नकारात्मक ही नही था। वे निषेध के साथ विधि के प्रवक्ता थे। आज का यह ज्वलन्त प्रश्न है कि अहिंसक के सामने हिंसा की विस्मृति सचाई है या केवल मिथ है? इस प्रश्न को भाषा के वाहन से उतारकर अनुभव के अश्व पर आरूढ़ किया जाएगा तभी अहिंसा की शक्ति उजागर हो सकेगी।

भारतवर्ष की धरती अहिंसा के लिए उपजाऊ है। यहां हिंसा और मार-काट का अभाव नहीं है। पर एक हिंसक व्यक्ति भी सैद्धान्तिक स्तर पर हिंसा को समर्थन नही देगा। देश के वायुमण्डल मे अहिंसा के जो विकिरण प्रभावी हुए उनके कारण ही वहा अभय, सहिष्णुता और सदभावना के बीज बोए गए। शस्त्र-परिज्ञा की अवधारणा अहिंसा के परिप्रेक्ष्य मे ही सभव है। शस्त्र-परिज्ञा का अर्थ शस्त्रो का ज्ञान ही नही, उनका परित्याग भी है। शस्त्र का परित्याग वही कर सकता है, जो शस्त्र को ही नही, शस्त्र का निर्माण करने वाली चेतना को भी जानता है। नि.शस्त्रीकरण इस युग का राजनीतिक शब्द बन गया। इसकी मूल आत्मा आध्यात्मिक है। शस्त्र का परित्याग वही कर सकता है जो 'आयतुले पयासु'—ससार के सब प्राणियो में अपनी आत्मा का दर्शन करता है।

भारत के मित्र राष्ट्रो मे सोवियत सघ का नाम भी है। सोवियत सघ का पिछला इतिहास लोहावरण का इतिहास है। लोहावरण की ओट मे कुछ भी होता है, ससार उससे परिचित नही हो पाता। पूरे विश्व से अलग-थलग रहने वाला सोवियत संघ अब सोवियत नेता मिखाइल गोर्वाच्येव के नेतृत्व में खुलेपन और पुनर्रचना की नीति पर अमल कर रहा है, यह एक सुखद घटना है।

चौकाने वाला घोषणा-पत्र

गोर्वाच्येव की विचारशैली और कार्यशैली बताती है कि भारत को ही नही विश्व के अन्य देशो को भी शान्ति की अपेक्षा है। यदि ऐसा नही होता तो वे भारत के प्रधानमत्री राजीव गाधी के साथ परमाणु-शस्त्ररहित शान्तिपूर्ण विश्व-व्यवस्था के लिए दससूत्री घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर क्यो करते? दिल्ली घोषणा-पत्र के नाम से प्रसिद्ध उस ऐतिहासिक घोषणा-पत्र के दस सूत्र इस प्रकार हैं—

१ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का आधार बनाया जाए।

२ मानव जाति को अमूल्य माना जाए।

३. अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार बनाया जाए।

४ भय और सन्देह की जगह सदभाव और विश्वास का वातावरण बने।

५ हर देश के राजनीतिक और आर्थिक आजादी के अधिकार को मान्यता दी जाए और इसका सम्मान किया जाए।

६ सैनिक हथियारो पर खर्च होने वाले साधनो का इस्तेमाल सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए किया जाए।

७ हर व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के वातावरण को सुनिश्चित किया जाए।

८ मानव जाति की भौतिक और बौद्धिक क्षमता का उपयोग विश्व की समस्याओ को हल करने मे किया जाए।

९ आतक के सतुलन की जगह अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को स्थान दिया जाए।

१० परमाणु हथियारमुक्त और अहिंसक विश्व वनाने के लिए तुरन्त ठोस कार्यवाही की जाए।

इस घोपणा-पत्र के सभी सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं। हिंसा के सन्दर्भ मे इनकी मीमासा की जाए तो दो सूत्रो मे ही सवका समाधान मिल सकता है। वे सूत्र है—

१ अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार वनाना।

२ अहिंसक विश्व का निर्माण करना।

इन सूत्रो की भापा पढकर यह प्रतीत नही होता कि यह घोपणा-पत्र किसी राजनीतिक पार्टी के नेता की ओर से प्रसारित हुआ है। सत्ता के शीर्ष पर आरूढ लोगो मे गाधी जैसे विरल व्यक्तित्व ही हुए हैं, जिन्होने समस्या के समाधान-रूप मे अहिंसा का उपयोग किया है। जिस समय विश्व के मन पर हिंसा के सस्कार प्रगाढ हो, हिंसा का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हो और हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाता हो, उस युग मे हिंसा से विमुख होकर अहिंसा की शरण मे जाने का चिन्तन ही चौंकाने वाला लगता है। पर भारत की राजधानी दिल्ली मे जो कुछ घटित हुआ उसे भारत के आकाश मे फैले हुए अहिंसा के विकिरणो का प्रभाव माना जाए तो भी अतिशयोक्ति नही होगी।

हिंसा एक चिरन्तन समस्या है। इसका उद्भव अभाव और आर्थिक विपमता की धरती पर ही नही होता, नाडीतत्रीय असतुलन के कारण भी होता है। इसके प्रेरक तत्त्व भौतिक पदार्थ ही नही है, वैचारिक अभिनिवेश भी है। जब और जहा भी आग्रह को पनपने का अवसर मिलता है, हिंसा की घुसपैठ शुरू हो जाती है। प्रथम चरण मे उसकी आक्रामक मुद्रा सामने नही आती। पर जैसे-जैसे आग्रह की जडें गहरी होती जाती है, हिंसा के खतरे वढते जाते हैं। आग्रही मनोवृत्ति के वदलाव का अमोघ मत्र है—अनेकान्त। अनेकान्त का अर्थ है—एक वस्तु मे अनेक विरोधी युगलो की स्वीकृति।

विश्व के जड-चेतन जितने तत्त्व हैं, वे सव अनन्त धर्मात्मक हैं। उन सवको एक साथ स्वीकार करने की निष्पत्ति है विचारो मे लचीलापन। वैचारिक लचीलापन व्यक्ति को विविध कोणो से देखने और सोचने का अवकाश देता है।

वह अपने अभिमत को ही सत्य या अन्तिम नही मानता। देखने या सोचने की समग्रता ही व्यक्ति को सत्य के निकट ले जा सकती है।

अहिंसा का आस्थासूत्र

विश्व शान्ति का सपना अहिंसा और अनेकान्त की आखो मे ही उतर सकता है। हिंसा और ऐकान्तिक आग्रह की धरती इसके लिए उपयुक्त नही है। जिस युग का आदमी शान्ति की कामना से हिंसा की परिक्रमा करता है और ढेर सारे आग्रहो को पालता है, वह रेत को पीसकर तेल निकालना चाहता है। पानी का मंथन करने से नवनीत की प्राप्ति नही होती। वैसे ही हिंसा के सहारे शान्ति की वेल ऊपर नही उठ सकती। हिंसा के साथ शान्ति का दूर का भी रिश्ता नही है। वैयक्तिक स्तर पर भी जव हिंसा से शान्ति का जन्म नही हो सकता तो वैश्विक स्तर पर कैसे हो सकता है? शस्त्रो की होड़ मे शान्ति को खोजने वाले सभी राष्ट्रो को उस होड से मुडकर नि शस्त्रीकरण की दिशा मे प्रस्थान करना होगा।

जहा जीवन है, वहा हिंसा है। शारीरिक स्तर पर जीने वाला व्यक्ति हिंसा के विना अपना काम नही चला सकता। यह एक सचाई है। पर इसका अर्थ यह तो नही कि विना किसी विशेप उद्देश्य, अपनी अस्मिता वनाए रखने के लिए हिंसा के शस्त्र को तीक्ष्ण किया जाए। परमाणु शस्त्रो के निर्माण की कहानी शस्त्रो के तीक्ष्णीकरण की कहानी है। इस कहानी को गढ़कर विश्व मानव के मन मे भय के इतने प्रकम्पन पैदा कर दिए गए हैं कि प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए अणु अस्त्रो का कवच धारण करने के लिए विवश हो गया।

अव समय वदला है, मनुष्य का चिन्तन वदला है और वदली है शान्ति सम्वन्धी अवधारणाए। शताब्दियो, सहस्राब्दियो तक हिंसा की चेतना को पोपण देने के वाद भी मानव जाति अत्राण है, असहाय है और अनिश्चिन्त भविष्य के भूत की गिरफ्त मे है। ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर का अहिंसा-दर्शन आलम्वन वन सकता है। उन्होंने ढाई हजार वर्प पहले लोक-चेतना मे व्याप्त हिंसा के प्रकम्पनो को निर्वीर्य करने के लिए जो दर्शन दिया, उसकी प्रासंगिकता आज किसी भी दृष्टि से कम नही हुई है। हिंसा से थके हुए, हारे हुए और टूटे हुए लोगो को भगवान महावीर का दर्शन आवाहन करता है कि उनकी थकान, पराजय और टूटन को दूर करने वाला कोई आश्वासन है तो वह अहिंसा है। अहिंसा कोई नारा नही है, जीवन का दर्शन है। जिस दिन वह मनुष्य की जीवन शैली का आधार वनेगा और उसका आस्थासूत्र 'आयतुले पयासु' जन-जन की आस्था का आधार वनेगा, उसी दिन विश्व शान्ति के प्रासाद की वुनियाद रखी जा सकेगी।

४६. मौन से होता है ऊर्जा का सचय

बोलना चादी है और मौन रहना सोना है, इस कथन मे मौन की तुलना सोने के साथ की गई है। सोना मूल्यवान् है, इस बात को वे जानते हैं जो सोना बेचते है या खरीदते हैं। अकिंचन साधक के लिए सोना और मिट्टी बराबर है। अकिंचन रहने का व्रत स्वीकार करने के बाद भी अगर सोने को देखकर आसक्ति जागती है तो एक गृहस्थ और साधु मे अन्तर ही क्या हुआ ?

एक गरीब वृद्ध जगल मे लकडिया लाता और बेचकर अपना काम चलाता। उसकी पत्नी भी इस काम मे उसकी सहयोगिनी थी। पति-पत्नी दोनो सतुष्ट थे। वे एक पैसे का भी सग्रह नही करते थे। एक दिन वे जगल से लौट रहे थे। आगे वृद्ध चल रहा था। उसके पीछे बुढिया थी। रास्ते मे सोने का आभूषण पडा था। वृद्ध ने सोचा—'स्त्रियो को स्वर्णाभूषणो का मोह होता है। इसे देखकर बुढिया की आसक्ति जग न जाए, इसलिए इस पर मिट्टी डाल दू।' वृद्ध आभूषण पर मिट्टी डाल रहा था। तब तक बुढिया वहा पहुच गई। उसने पूछा—'क्या कर रहे हो ?' वृद्ध सत्यवादी था। उसने अपने मन का सदेह बता दिया। बुढिया बोली—'मै तो समझ रही थी कि तुम्हारा धन से छुटकारा हो गया। पर अभी तक हुआ नही। तुम अब भी सोने और मिट्टी मे अन्तर कर रहे हो। अन्यथा मिट्टी पर मिट्टी डालने का क्या अर्थ है।' वृद्ध अपनी पत्नी का तर्क सुनकर स्तब्ध रह गया।

मौन आभूषण है

मौन साधना का एक अग है। 'गुत्ती वओगोयरस्स'—वाणी का गोपन व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है। आयारो का एक सूक्त है—'मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरग'—मुनि मौन स्वीकार कर कर्म शरीर को प्रकम्पित करे। उक्त सूक्त का यह अर्थ करते रहे हैं। पर जब से 'आयारो' की गहराई मे उतरने का प्रयास किया है, इसके एक-एक सूत्र का नया अर्थ मिला है। यहा भी मुनि का सम्बन्ध मौन से नही है। मणतीति मुनि —प्राकृत भाषा मे मुण धातु ज्ञान के अर्थ मे है। मुनि

का अर्थ है ज्ञानी और मौन का अर्थ है ज्ञान ।

मनुष्य के लिए ज्ञानी होना कठिन है और मौनी होना भी कठिन है। जीवन मे अनेक प्रसग ऐसे होते हैं, जहा न बोलना श्रेयस्कर होता है पर अनायास ही व्यक्ति बोल पडता है। नीतिकारो ने मौन की महिमा गाते हुए कहा है—

स्वायत्तमेकान्तहित विधात्रा,
विनिर्मित छादनमज्ञताया.।
विशेषत. सर्वविदां समाजे,
विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥

विधाता ने मनुष्य को एक ऐसा रक्षा कवच दिया है, जिससे वह अपने अज्ञान को ढक सकता है । विद्वानो की सभा मे कोई मूर्ख व्यक्ति मौन धारण कर चला जाए तो वह उसका आभूषण बन जाता है ।

मौन रहना चाहिए

बादशाह ने बीरबल से कहा—'मैं तुम्हारे पिता से मिलना चाहता हूं।' बीरबल बोला—'जहापनाह ! वह वृद्ध हैं। आप उनसे मिलकर क्या करेंगे ?' बादशाह ने आग्रहपूर्वक कहा—'उसे एक दिन राजसभा मे भेजना ही होगा।' बीरबल घर गया और पिता से बादशाह के पास जाने को कहा । पिता बादशाह के पास जाने की बात पर घबरा गया। उसने पूछा—'मुझे वहा जाकर क्या करना है ? क्या मेरे गए बिना काम नही हो सकता ?' बीरबल ने कहा—'करना कुछ नही है, पर राजसभा मे जाना जरूरी है।'

बीरबल ने अपने पिता को अच्छे कपडे पहनाए और कहा—'आप वहा जाए। सलाम कर खडे हो जाए। बादशाह कुछ भी पूछें, आप बोलें नही।' बादशाह की सभा जुडी हुई थी। बीरबल का पिता आया। वह अकेला था। बीरबल उसके साथ नही था। बादशाह ने अनुमान से जाना कि वह बीरबल का पिता होना चाहिए। उसने पूछा—'तुम कौन हो ?' वह मौन रहा ।

बादशाह—तू बीरबल का बाप है ?

आगन्तुक—मौन···

बादशाह—तू बहरा है क्या ?

आगन्तुक—मौन··

बादशाह—तू बेवकूफ है, मेरे किसी प्रश्न का जवाब नही देता ?

आगन्तुक—मौन···

बादशाह—इस बेवकूफ को पकडकर निकालो यहा से ।

बादशाह का निर्देश पा कुछ व्यक्तियो ने उसका हाथ पकड़ उसे राजसभा से बाहर कर दिया। बीरबल का पिता इस बेइज्जती से दुखी होकर घर पहुचा।

उसने सारी वात वीरवल मे वता दी। वीरवल ने पूछा—'आपने वहा क्या किया ?' उसने कहा—'मैं कुछ भी नहीं वोला।'

वीरवल सभा मे पहुचा। वादशाह उसकी प्रतीक्षा कर ही रहा था। वह वीरवल को नीचा दिखाना चाहता था। वीरवल को देखते ही उसने पूछा—'वीरवल ! किसी वेवकूफ से पाला पड जाए तो क्या करना चाहिए ?' वीरवल शान्ति के साथ वोला—'जहापनाह ! मौन रहना चाहिए।' वादशाह समझ गया कि वीरवल ने यह थप्पड उसके गाल पर ही लगाई है।

मौन करना, मौन कराना

आचार्य भिक्षु मौन का मूल्य समझते थे। वे वहुत वडे अवसरज्ञ थे। कभी वे स्वय मौन रहते और कभी सामने वाले को मौन कर देते। एक वार वे भीलवाड़ा मे प्रवास कर रहे थे। एक व्यक्ति ने उनसे प्रश्न पूछा—'किसी श्रावक ने सव पापो का परित्याग कर दिया। उसको भोजन-पानी देने मे क्या होगा ?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'धर्म होगा।' इस पर वह व्यक्ति वोला—'आप तो श्रावक को दान देने मे पाप मानते हैं। आज धर्म कैसे कहा ?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'तुम अपना प्रश्न सभालो। श्रावक ने सव पापो का परित्याग कर दिया। सव पापो का त्याग करने मे वह साधु वन गया। साधु को दान देने मे धर्म ही होगा।' प्रश्न करने वाला कुछ वोलने की स्थिति मे नही रहा। उसे मौन का सहारा लेना पडा।

पीपाड मे मालजी नाम का एक व्यक्ति आचार्य भिक्षु के पास आया और वोला—'भीखणजी ! चर्चा करो।' आचार्य भिक्षु ने उसको टालना चाहा। पर वह अहकार मे वोलने लगा। आचार्य भिक्षु ने पूछा 'मालजी ! छह काय के जीवो को खाने से क्या होता है ?' वह वोला—'पाप होता है।' आचार्य भिक्षु का दूसरा प्रश्न था कि छह काय के जीवो को खिलाने से क्या होता है ? वह वोला—'पाप होता है।' आचार्य भिक्षु ने यह वात सुन भारीमालजी से कहा—'भारमल ! स्याही घोलकर लिखो कि मालजी पानी पिलाने मे पाप कह रहे हैं।' यह सुनते ही मालजी आवेश मे आकर वोला—'मैने पानी पिलाने मे पाप कव कहा ?' आचार्य भिक्षु ने उससे पूछा—'पानी छह जीव-निकाय मे ही है या उनसे वाहर है ?' अव वह क्या वोले। उसने कहा 'है तो छह जीव-निकाय मे, पर इसे लिखना मत।' इस प्रकार वह निरुत्तर होकर चला गया।

मौन से सिद्ध होते है सव प्रयोजन

त्रिगुप्ति साधना मे एक है—वचनगुप्ति। इसका अर्थ है मौन का प्रयोग। 'मौन सर्वार्थसाधनम्'—मौन के द्वारा सव प्रयोजन सिद्ध हो जाते है, यह एक अवधारणा है। किन्तु इसे भी सापेक्ष दृष्टि से समझना जरूरी है। वोलने की अपेक्षा हो, वहा

वोलना और अपेक्षा न हो, वहा मौन रहना। यह विवेक जाग जाए तो वोलना और मौन—दोनो ही कार्यकारी वन जाते है। उपाध्याय विनयविजयजी ने इस संदर्भ मे विवेक देते हुए कहा है—

परिहर परचिन्तापरिवारं चिन्तयनिजमविकारं रे।
तव किं कोपि चिनोति करीरं चिनुतेऽन्य सहकार रे॥

मनुष्य दूसरो की चिन्ता छोडे और अपने अविकृत स्वरूप का चिन्तन करे। कोई व्यक्ति कैर तोडता हो या आम ? इस चिन्ता मे उलझने से क्या मिलेगा ? दूसरो के वारे मे अधिक चिन्तन करना और उनके मागे विना ही परामर्श देना अपने चिन्तन और शब्दो की मूल्यवत्ता को अधिक आंकना है। अपेक्षा समझें तो आप किसी को सलाह दे सकते है। पर आपके परामर्श को सुनकर भी अनसुना करने वालो के प्रति भी आपके मन मे आक्रोश न उभरे। कहा गया है—

योऽपि न सहते हितमुपदेशं तदुपरि मा कुरु कोप रे।
निष्फलया किं परजनतप्त्या कुरुषे निजसुखलोप रे॥

जो व्यक्ति हित की वात को सहन न करे, उस पर भी गुस्सा करने का औचित्य नही है। विनयविजयजी कहते है कि दूसरे व्यक्ति के प्रति निष्फल क्रोध करके अपने सुख को खोने से क्या लाभ ? मौका हो तो अपनी वात रख दी जाए, अन्यथा मौन का अभ्यास वहुत अच्छा है।

कुछ लोगो ने सुझाव दिया—'गाधीजी सप्ताह मे एक दिन मौन रखते थे। आप भी ऐसा करें।' मैंने कहा—'मैं मौन का प्रयोग करता हूं। सप्ताह मे एक दिन नही, प्रतिदिन डेढ या दो घण्टे का मौन, मैं विश्राम की दृष्टि से करता हू। दिन भर वोलने का प्रसंग रहता है। मौन के वाद अनुभव होता है कि कुछ नयी ऊर्जा का सचय हुआ है। अष्टमी-चतुर्दशी के एकासन और प्रतिदिन मौन—ये दोनो मेरे लिए लाभकारी प्रमाणित हुए हैं।'

४७. कैसे खुलेगी भीतर की आंख ?

मनुष्य के लिए दृष्टि का बहुत मूल्य है। दृष्टि है तो ससार है, दृष्टि नही तो सब कुछ शून्य है। भगवान महावीर ने जो दर्शन दिया, उसमे भी दृष्टि का स्थान प्रथम है। 'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग'—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण, ये तीनो जिस बिन्दु पर मिलते है, वही से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। दृष्टि सम्यक् है तो ज्ञान और आचरण भी सम्यक् हो जाते है। दृष्टि का विपर्यास ज्ञान को भी अज्ञान बना देता है। एक ज्ञानी व्यक्ति का आचरण भी निर्विवाद नही रह सकता। इस बात को ध्यान मे रखकर अध्यात्म के क्षेत्र मे पूरा ध्यान दृष्टि पर केन्द्रित किया जाता है।

दृष्टि का दूसरा नाम है आख। आख विकृत हो जाए, उससे दिखाई न दे तो शल्य-चिकित्सा कराई जाती है। शल्य-चिकित्सको ने इस क्षेत्र मे बहुत विकास किया है। जिस समय व्यक्ति अपनी खोई हुई नेत्र-ज्योति को प्राप्त करता है, उसे कितनी प्रसन्नता होती है। बाहर की ज्योति मिलने से ही इतनी प्रसन्नता हो तो उस प्रसन्नता का क्या कहना, जो भीतर की आख खुलने से प्राप्त होती है। भीतर की आख खुलने का अर्थ है तीसरी आख का खुलना। दूसरे शब्दो मे इसे प्रज्ञा का जागरण भी कहा जा सकता है। भीतरी आख खुल जाए, प्रज्ञा जाग जाए तो व्यक्ति की जीवनधारा बदल जाती है।

भूखे रहना ही तपस्या नही है

प्रज्ञा को जगाने के लिए साधना आवश्यक है। हमारे आगमो मे ऐसे अनेक प्रयोग बताए गए है, जिनके द्वारा प्रज्ञा का जागरण सभव है। आज की चर्चा मे मुख्य रूप से तीन प्रयोगो पर ध्यान देना है। पहला प्रयोग है तपस्या। सामान्यत उपवास, बेला, तेला, पखवाडा, मासखमण आदि का समावेश तपस्या मे होता है। तपस्या के इस स्वरूप को अस्वीकार करने का कोई कारण नही है। पर यह निश्चित है कि केवल भूखे रहने मात्र से उसके रूप मे निखार नही आ सकता। तपस्या के

साथ श्रम और समता का योग हो तो सोने मे सुगध हो सकती है।

तपस्या अपने आप मे एक प्रकार का श्रम है। श्रमुच् खेदतपसो —श्रम् धातु की अर्थ-यात्रा खिन्नता और तपस्या—इन दोनो धाराओ से जुडी हुई है। श्रमण संस्कृति मे विश्वास करने वाला व्यक्ति तपस्या और श्रम के विना सही जीवन नही जी सकता। जिसके हाथो मे कभी छाले नही हुए, वे हाथ शुद्ध नही हो सकते।

सिखो के गुरु नानक व्याख्यान देने गए। उनको प्यास का अनुभव हुआ। वे वोले—एक लोटा शुद्ध जल ले आओ। एक नवयुवक गया। वह अपने कोमल और साफ-सुथरे हाथो से एक चादी का लोटा जल से भर कर लाया। नानक ने उसके हाथो को ध्यान से देखा और कहा—'तुम्हारे हाथ इतने कोमल! लगता है तुमने हाथो से कभी श्रम नही किया। श्रम के विना हाथो की शुद्धि कैसे होगी ? मैं यह पानी नही पी सकता।'

स्वावलम्वन की चमक

श्रम हमारी सस्कृति का प्राण है। श्रम करने मे किसी को शर्म का अनुभव नही होना चाहिए। श्रम के साथ सेवा और स्वावलम्वन की वात भी जुडी है। गुजरात के प्रसिद्ध सत रविशकर महाराज, जो गृहस्थ होने पर भी सन्त जैसा जीवन जीते थे, अकाल के समय दौरे पर गए। वहा उन्होने कुछ गावो मे गुड वाटा। ग्रामवासी उनको घेरे खडे थे। एक दुवली-पतली साधारण सी लडकी भीड मे हटकर एक ओर खडी थी। रविशकर ने उसे अपने निकट वुलाकर कहा—'वेटी! तुम भी गुड ले जाओ।' वह वोली—'दादा! मैं गुड नही लूगी।' रविशकर महाराज ने कारण पूछा तो वह वोली—'मेरी मा ने कहा है कि हमे हाथ मिले हैं। जव तक हमारे पास हाथ हैं, कभी मुफ्त का नही खाना।' एक दुवली-पतली गरीव परिवार की भूखी लडकी की आखो मे स्वावलम्वन की चमक थी। उसने गुड नही लिया।

कुछ लोग तपस्या करते समय भी अपनी चर्या मे कोई वडा परिवर्तन नही करते। जप, ध्यान, योगासन, सामायिक, प्रवचन-श्रवण आदि धार्मिक प्रवृत्तियो मे वे कभी आलस्य नही करते। कुछ लोग तो घर या ऑफिस का काम भी वन्द नही करते। उनकी आकृति को देखने से लगता ही नही कि वे कई दिनो से भूखे हैं।

समता है साधना की चावी

जैन आचार का सर्वोपरि तत्त्व है समता। तपस्या, सेवा, श्रम, स्वावलम्वन आदि की सफलता वहुगुणित हो जाती है, यदि इन सवके साथ समता है। समता के अभाव मे तपस्या के साथ उत्तेजना की सभावना रहती है। समता न हो तो सेवा के साथ अहकार पनपता है और श्रम मे झुझलाहट वढ़ती है। समता वह असदीन द्वीप है, जो व्यक्ति को सव खतरो से सुरक्षित रखता है।

समता चावी है साधना की। चावी का कितना मूल्य है, इसे सब समझते है। किसी सौ मजिले मकान की ऊपर की मजिल पर पहुचने के वाद पता चले कि चावी नीचे छूट गई है। उस समय व्यक्ति की क्या स्थिति होती है? वडे-वडे तपस्वी, ध्यानी और प्रवचनकार प्रसिद्धि के शिखर पर पहुचकर भी समता को नही साध पाते है तो उनकी प्रसिद्धि का क्या अर्थ रह जाता है। समता कोई उपासना की विधि नही है। यह धर्म का जीवन्त रूप है। **समया धम्ममुदाहरे मुणी**—ज्ञानी पुरुषो ने समता को ही धर्म कहा है।

कोई व्यक्ति उपवास नही कर सकता, सामायिक नही कर सकता, जप नही कर सकता, प्रवचन नही सुन सकता, साधु-सन्तो की उपासना नही कर सकता, पर उसकी समता कभी खडित नही होती तो मानना चाहिए कि वह वडा धार्मिक है। धार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति के जीवन मे असहिष्णुता हो, उत्तेजना हो, लोभ हो, आक्रोश हो, मोह हो और असन्तुलन हो तो समझना चाहिए कि उसने ऊपर-ऊपर से धर्म को पकडा है। धर्म उसके जीवन मे प्रवेश करे, वे सारे दरवाजे वन्द है। जव तक वे दरवाजे नही खुलेंगे, धार्मिक जीवन के आनन्द का अनुभव नही होगा।

समता की साधना होती है सम्यक् दृष्टि के विकास से। जव तक दृष्टि सम्यक् नही होती, अनेक प्रकार की मिथ्या अवधारणाए व्यक्ति को भ्रान्त वनाए रखती है। भ्रान्ति के कुहासे मे सत्य का सूरज भी धुधला हो जाता है। सदिग्ध मन मे किया गया आचरण भी सही फल नही दे सकता। भ्रान्ति दृष्टि का दोष है। इस दोष की शल्य-चिकित्सा वीतराग वाणी से ही सभव है। जो व्यक्ति दृष्टि-सपन्न हैं, वे आगमो का अनुशीलन कर अपनी दृष्टि को अधिक प्रखर वनाए और जिन्हे अव तक दृष्टि उपलब्ध नही हुई है, वे दृष्टिसम्पन्न व्यक्तियो के सम्पर्क से दृष्टि पाने के लिए पुरुषार्थ करें।

४८. आसक्ति छूटती है उपनिषद से

उपनिपद से आसक्ति मिटती है। जो उपनिषद नही जानता, उसकी आसक्ति नही मिट सकती। इन वाक्यो मे उपनिषद शब्द महत्त्वपूर्ण है। उपनिपद का एक अर्थ है—छान्दोग्य, कठ, ईशावास्य आदि उपनिपद। इसका दूसरा अर्थ है समीप वैठना। किसके समीप ? आत्मा के समीप या गुरु के समीप। उपनिषद ग्रन्थो मे आत्मा से सम्बन्धित गूढ चर्चा है। वहा अपराविद्या और पराविद्या का विश्लेपण है। पराविद्या को अध्यात्म विद्या माना गया है। अपराविद्या की पहुच मन के आगे नही है। मन से आगे जो कुछ है, उसे जानने के लिए पराविद्या को माधना आवश्यक है। साइस की भापा मे इसे पेरासाइकोलॉजी कहा जाता है। उपनिपदो के रचनाकारो ने आत्मा का सान्निध्य साधा। आत्मोन्मुखता की स्थिति मे उन्होंने जो कुछ लिखा, वह उपनिषद के रूप मे सामने आ गया। कुछ उपनिपद अध्यात्म विद्या के उत्कृष्ट ग्रन्थ है, ऐसा विद्वानो का अभिमत है।

गांधी के सान्निध्य से सबक मिला

आत्मा के सान्निध्य की तरह गुरु का सान्निध्य भी आसक्ति को दूर करने मे सहायक वनता है। जो व्यक्ति मन, वाणी और कर्म से गुरु के निकट रहता है, वह अपनी आसक्ति को दूर कर सकता है। कहा जाता है कि प० जवाहरलाल नेहरू को महात्मा गाँधी का सामीप्य उपलब्ध नही होता तो उनको अध्यात्म नही मिलता। वे विद्वान थे, कूटनीतिज्ञ थे पर अध्यात्म मे उनकी अभिरुचि नही थी।

एक वार गाधीजी आनन्द भवन मे हाथ धो रहे थे। हाथ धुलाने के लिए पानी डालने का काम नेहरू कर रहे थे। उन्होने पानी कुछ अधिक डाल दिया। पानी धार वनकर वहने लगा। गाधीजी ने उनको टोकते हुए कहा—'जवाहर लाल ! पानी कैसे डाल रहे हो ? कितना पानी फालतू वह गया।' नेहरू वोले—'मैं सगम का निवासी हूं। मेरे यहा पानी की कमी नही है।' गाधीजी ने कहा—'जवाहरलाल ! क्या कह रहे हो ? हमारे देश के करोडो लोगो को पूरा पानी नही

मिलता और तुम कह रहे हो कि यहा पानी की कमी नही है। व्यर्थ ही कितना पानी वह रहा है। गाधी के इन शब्दो ने नेहरुजी को चिन्तन के लिए बाध्य कर दिया। उन्होंने पानी की धार पतली की और भविष्य के लिए यह सबक ले लिया कि पानी का भी अपव्यय नही होना चाहिए।

मैं जो कुछ हू, गुरु के सान्निध्य के कारण हू

गुरु का सान्निध्य शिष्य के जीवन-निर्माण मे उपयोगी बनता है। पल-पल गुरु से मिलने वाली प्रेरणा शिष्य को जागरूक बनाती है। जिन शिष्यो को गुरु का सीधा सान्निध्य नही मिलता है, वे अनेक उपलब्धियो से वचित रह जाते है। जो शिष्य अन्तर्मन से गुरु का सान्निध्य साधते है, उनको नये-नये तत्त्व मिलते है। सान्निध्य भी कैसा ? जिसमे किसी प्रकार का तर्क न हो, किसी प्रकार की चिन्ता न हो। पूर्ण समर्पण और पूर्ण निश्चिन्तता के साथ जो सान्निध्य मिलता है, उसी मे उपलब्धियो की सभावनाए साकार होती हैं।

मुझे अपने गुरु का सान्निध्य मिला। ग्यारह वर्षों का वह सुखद, प्रेरक और समाधिमय सान्निध्य नही मिलता तो यह 'तुलसी' तुलसी नही बनता। गुरु के पवित्र आभामण्डल मे रहने मे पवित्रता की प्रेरणा मिली, शक्ति का जागरण हुआ, उत्साह का सचार हुआ और बुभूषा का भाव जागा। ग्यारह वर्ष की वय मे अपने गुरु का छोटा शिष्य बनू, उनके चरणो मे बैठकर अध्ययन करू और उनके सान्निध्य मे रहू, उनकी उपासना करू—मेरा यह सपना साकार हुआ। यद्यपि मुझे गुरु का सान्निध्य मात्र ग्यारह वर्षों तक मिला। पर वह सान्निध्य कैसा था ? शब्दो से बताया नही जा सकता। आज तुलसी का जो रूप आपके सामने है, वह सब उस दुर्लभ सान्निध्य के कारण है।

गुरु दिखाते हैं आसक्ति का धागा

गुरु के सान्निध्य मे रहने वाले शिष्य को विनीत माना जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

> आणानिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।।
> इगियागारसपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ।।

—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु के सान्निध्य मे रहता है, गुरु के इगित और आकार को जानता है, वह विनीत कहलाता है।

शिष्य को गुरु के सान्निध्य मे कैसे रहना चाहिए ? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए इसी आगम मे बताया है—

> निसन्ते सियाऽमुहरी वुद्धाण अन्तिए सया।
> अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए ।।

—शिष्य गुरु के सामने सदा प्रशान्त रहे। वह कभी वाचालता न करे। उनके पास अर्थयुक्त पदो को सीखे और निरर्थक कथाओ का वर्जन करे।

प्रश्न होता है कि जैन दर्शन के अनुसार अपने सुख-दु ख का निर्माता व्यक्ति स्वय होता है। व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से भी व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ काम आता है। फिर वह गुरु के उपपात मे क्यो रहे? इस प्रश्न के समाधान मे हमारे आचार्यो ने कहा है कि आसक्ति को देखने के लिए, समझने के लिए व्यक्ति गुरु की शरण स्वीकार करे। क्योकि आसक्ति को देखने की कला अपने आप नही आती। **तम्हा संग ति पासहा**—आसक्ति को देखो। आसक्ति का धागा इतना सूक्ष्म है कि वह पकड़ मे ही नही आता।

मनुष्य खाता है, पीता है, पहनता-ओढता है, देखता है, रोता है, हसता है, अन्य अनेक प्रकार की क्रियाए करता है। उनमे आसक्ति कहा है? इस बात को समझना बहुत मुश्किल है। गुरु अपने शिष्य को दिशाबोध देते हैं— जब तक जीवन है, तुम प्रवृत्ति को छोड नही सकते। जो बात छूटने की है ही नही, उसे छोडने की चिन्ता मे समय का व्यय क्यो करते हो? तुम सब कुछ करो, पर सग को छोड दो। आदमी को डुबोने वाला कोई तत्त्व है तो वह आसक्ति है। आसक्ति छूटती है सकल्पशक्ति के विकास से। सकल्प की दृढता से ही आसक्ति को जीता जा सकता है।

जब सियार राजा भोज बना

सकल्प की दृढता से आत्मबल पुष्ट होता है। आत्मबल मजबूत हो तो शेर और सियार का मुकाबला हो सकता है। जगल मे सियार रहता था। उसकी पत्नी आसन्नप्रसवा थी। उसने सियार से 'घूरी' बनाने के लिए कहा। सियार ने कहा— 'अभी क्या जल्दी है?' सियार की पत्नी ने उसे कई बार सावधान किया पर वह आगे से आगे टालता गया। प्रसव का समय बिलकुल सन्निकट आ गया। सियार अपनी पत्नी को साथ लेकर चला। पास मे ही शेर की गुफा थी। शेर पानी पीने के लिए गया था। वह उसे लेकर गुफा मे घुस गया। वहा प्रसव हो गया। सियार दो बच्चो का पिता बन गया। उसकी पत्नी शेर नाम से घबरा रही थी। उसने कहा—'शेर आ जाएगा, तब क्या होगा?' सियार बोला—'तुम चिन्ता मत करो, जैसा मैं कहू, वैसा कर लेना।'

सियार की पत्नी गुफा के भीतर थी। सियार गुफा के मुहाने पर आकर बैठ गया। थोडी देर बाद शेर पानी पीकर लौटा। शेर को दूर से ही देखकर सियार बोला—'ओ भानुमती रानी! जयकुमार, विजयकुमार क्यो रोते है?'

सियार की पत्नी—रोते क्या है, ये कहते हैं कि शेर के कलेजे का मास खाएगे।

सियार—अरे ! बच्चो को चुप करो। शेर इधर आ रहा है। बच्चो का चिल्लाना सुनकर वह भाग न जाए।

शेर ने सोचा—लगता है कि राजा भोज शिकार करने आया है। वह राजा के तीखे तीरो की कल्पना से घबराया और वहा से भाग गया। सियार का तीर निशाने पर लगा। वह अपनी सफलता पर खुश हो गया।

वन्दर की पचायत

सियार और सियार की पत्नी के बीच हुआ सवाद वृक्ष पर बैठा हुआ एक वन्दर सुन रहा था। वह भागते हुए शेर के पास गया और बोला—'जगल का राजा ! इस प्रकार असहाय होकर भाग क्यो रहा है ?' शेर ने कहा—'राजा भोज शिकार पर आया है। वह शायद निशाना साधकर बैठा है।' वन्दर बोला—'वहा कोई राजा भोज नही। वह तो सियार है।' शेर को विश्वास नही हुआ तो वन्दर ने कहा—'चलो, आपके साथ मैं चलता हू।'

शेर ने अपने मन का भय प्रकट करते हुए कहा—'तुम तो उछलकर वृक्ष पर चढ जाओगे। मारा मैं जाऊगा।' इस पर वन्दर ने शेर को भरोसा दिलाने के लिए उसकी पूछ के साथ अपनी पूछ बाधने का सुझाव दिया। शेर और वन्दर दोनो साथ-साथ गुफा की ओर चले।

सियार ने दूर से आते शेर को देखा। वह समझ गया कि सारी खुराफात वन्दर की है। उसने ऊचे स्वर मे कहा—'ओ भानुमती रानी ! बच्चे क्यो रो रहे है।?' गुफा मे उत्तर आया—'वे शेर का मास खाने के लिए उतावले हो रहे है।' सियार बोला—'इन्हे चुप करो। पहले ही इनकी चिल्लपो सुनकर शेर भाग गया। अब हमारा वन्दर भाई उसे जैसे-तैसे फुसलाकर ला रहा है। बच्चे चिल्लाए तो वह फिर भाग जाएगा।'

आत्मवल की विजय

शेर ने सियार की वात सुनी और सोचा—'मेरे साथ धोखा हुआ है। यह वन्दर तो राजा के साथ मिला हुआ है।' वन्दर को धूर्त समझ शेर उल्टे पाव भागा। वन्दर ने उसको कुछ कहना चाहा, पर वह कुछ भी सुनने के मूड मे नही था। उसे अपने प्राण बचाने की चिन्ता थी। वह पहाडो मे होकर दौडता रहा। वन्दर की हड्डिया विखर गई। उधर सियार और उसकी पत्नी निश्चिन्तता से शेर की गुफा मे बैठे रहे।

सियार, शेर जैसे शक्तिशाली प्राणी को पराजित कर उसके घर को हथियाने

मे सफल हो गया। क्यो ? उसके पास कौन-सा वल था ? ऐसा क्या हथियार था ? मेरे अभिमत से उसके पास एक ही शस्त्र था, एक ही शक्ति थी—मजवूत आत्मवल। आत्मबल कमजोर होता तो सियार शेर के सामने टिक ही नही सकता। उसके इरादे मजवूत थे, हौसले वुलन्द थे, संकल्पशक्ति दृढ थी। इसी कारण उसने शेर से मुकावला किया और उस मुकावले में विजयी हुआ।

४६. धर्म की एक कसौटी

आचार्य भिक्षु अपने युग मे क्रान्तिकारी आचार्य के रूप मे पहचाने गए। उन्होंने धर्मक्रान्ति की। उनकी क्रान्ति का पूरा इतिहास है। क्रान्तिकारी कहलाने के लिए क्रान्ति करना उनको अभीष्ट नहीं था। उनके सामने सबसे बडा उद्देश्य था लक्ष्य मे जुडकर रहना। साधु जीवन स्वीकार करने का जो लक्ष्य था, उसमें आंख मिचौनी करना उन्हे प्रिय नही था। वे मानते थे कि उन्होंने घर और परिवार किसी विवशता से नही छोडा है। कालचक्र के अवसर्पिणी विभाग मे पांचवें आरे का नाम लेकर साधुचर्या मे किसी प्रकार की शिथिलता को स्वीकार करना दुर्बलता है।

आचारगत शिथिलता का विश्लेषण करने से पहले उन्होंने वैचारिक समीक्षा की। मिश्र धर्म, अल्प-पाप बहु-निर्जरा, पुण्य का स्वतन्त्र बंध, लौकिक दान, अनुकम्पा आदि अनेक विषयो मे उनका चिन्तन उस समय प्रचलित अवधारणाओं से भिन्न था। उनका चिन्तन एक दृष्टि मे मौलिक होते हुए भी जैन शास्त्रों से प्रमाणित था। उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त की पुष्टि मे आगमो के अनेक प्रमाण दिए है। जिनवाणी के प्रति उनकी अटूट आस्था उनके आत्मार्पण की अभिव्यक्ति देने वाली है।

आज्ञा मे धर्म होता है

आचार्य भिक्षु ने धर्म को अनेक कसौटियो पर कसा। उनके द्वारा निर्धारित कसौटियो मे एक कसौटी है—'अर्हतो की आज्ञा मे धर्म है।' इस कसौटी का आधार है—'आणाए मामग धम्मं।' आज्ञा शब्द के अनेक अर्थ हो सकते है। आचार्य भिक्षु ने आज्ञा का अर्थ किया है अनुशासन। साधु कौन होता है? जो अर्हत् और आचार्य की आज्ञा का आराधन करने वाला साधु होता है। यहां आज्ञा की आराधना का प्रतिपाद्य है उनके अनुशासन मे रहना। अर्हत् की आज्ञा को सम्मान देने वाला आचार्य की आज्ञा को उपेक्षित नहीं कर सकता। आचार्य अर्हतों के

प्रतिनिधि होते है। उनकी अनुपस्थिति मे उनका काम आचार्य को करना होता है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि अर्हत् और आचार्य की आज्ञा भिन्न-भिन्न नही होती।

आज्ञा का महत्त्व प्राणों से अधिक

तेरापथ धर्मसघ मे आज्ञा को धर्म मानने का संस्कार जन्मघुट्टी के साथ मिलता है। एक ओर अर्हतो तथा आचार्य की आज्ञा है तथा दूसरी ओर प्राण हैं। आज्ञा और प्राणो मे प्राथमिकता के प्रश्न पर कहा गया है—

गुरु-आणा प्राणाधिक जाणो,
अन्तर-मन इगित पहचाणो,
कोइ वात मनोगत मत ताणो ॥

तेरापथ का इतिहास वोलता है कि आज्ञा के प्रति समर्पित रहने वाले साधारण व्यक्ति भी महान वन गए। जिन्होंने आज्ञा की अवहेलना की, उन्हें शिखर पर पहुंचने के वाद भी नीचे उतरना पडा। आचार्य भिक्षु के समय मे तेरापथ सघ वहुत छोटा था। साधु-साध्वियो की सख्या कम थी। अनुशासन की कठोरता से उस सस्था मे कमी होने की वात स्पष्ट दिखाई दे रही थी। किन्तु इस भय से अनुशासन को कभी श्लथ नही होने दिया गया। आचार्य भिक्षु के परम कृपापात्र मुनि भारीमालजी, हेमराजजी और खेतसी को भी अनुशासन की कसौटी पर चढना पडा।

आचार्य की आज्ञा भी धर्म है

अर्हतो की आज्ञा मे धर्म है, धर्म की यह कसौटी ठीक वैठ सकती है। क्योकि अर्हत् सर्वज्ञ होते हैं। उनकी कोई आज्ञा ऐसी नही होगी, जो अधर्म का अनुमोदन करने वाली हो। पर आचार्य की आज्ञा को इतना मूल्य दिया गया, उसका एक कारण है? आचार्य के लिए एक विशेपण आता है, आचारकुशल। वे स्वय आचार का पालन करते हैं और दूसरो को आचार पालने की प्रेरणा देते हैं। वे स्वयं अनुशासन मे रहते है और दूसरो को अनुशासन मे रहना सिखाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आचार्य पर किसका अनुशासन होता है? सवसे पहले तो आचार्य आत्मानुशासित होते है। उसके साथ उन पर सघ की मर्यादाओ और आगमोक्त परम्पराओ का भी अनुशासन होता है। यदि आगम और सघ की मर्यादाओ के प्रति आचार्य स्वय जागरूक नही रहेगे तो अपने शिष्यो से जागरूकता की अपेक्षा कैसे रखेंगे? अनुशासक को सवसे अधिक अनुशासित रहना होता है।

आचार्य की आज्ञा मे धर्म है, यह बात उन्ही आचार्यों के लिए है, जो आचार्य की अर्हता से संपन्न हैं। नाममात्र के आचार्य बनकर अपनी आज्ञा को महत्त्व देना विडम्बना है, प्रवचना है। इस दृष्टि मे विशेष जागरूकता की अपेक्षा है।

आज्ञा शब्द की गरिमा

तेरापथ धर्मसघ मे आज्ञा शब्द को बहुत गरिमापूर्ण माना गया है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'आज्ञा शब्द का प्रयोग यत्र-यत्र मत करो।' उन्होंने अनेक अवसरो पर आज्ञा का प्रयोग न करके सवधित व्यक्ति के विवेक को जगाने का प्रयास किया।

कोटा के दौलतरामजी के टोले से चार साधु आचार्य भिक्षु के सघ मे सम्मिलित हुए। उनके नाम थे—वर्धमानजी, वडा रूपजी, छोटा रूपजी और सूरतोजी। एक दिन छोटे रूपजी बोले—'मैं ठडी-बासी रोटी नही खा सकता।' भिक्षा मे ठडी और गर्म—सव प्रकार की रोटिया आती। साधुओ ने विभाग करना शुरू किया तो रूपजी ने ठडी रोटी खाना अस्वीकार कर दिया। दूसरे साधुओ ने कहा—'यह कैसे हो सकता है? एक साधु को गर्म रोटिया कैसे दी जा सकती है?'

आचार्य भिक्षु ने उनके बीच मे हस्तक्षेप करते हुए कहा—'साधुओ! आग्रह मत करो। लाओ विभाग मैं कर देता हू।' साधु शान्त हो गए। आचार्य भिक्षु ने ठडी रोटियों एव गर्म रोटियो का अलग-अलग विभाजन कर दिया। उसके वाद ठडी रोटियो पर एक-एक लड्डू रख दिया। रूपजी वोले—'यह विभाजन विषम है।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'जो ठडी रोटी छोडेगा, उसे लड्डू भी छोडना होगा।' रूपजी निरुत्तर हो गए। वडे-छोटे के क्रम से सव साधुओ ने एक-एक पाती—विभाग उठा लिया। ठडी और गर्म की चर्चा समाप्त हो गई।

आचार्य भिक्षु ऐसे प्रसग मे आज्ञा का प्रयोग कर सकते थे। पर उन्होंने सवधित साधु का विवेक जगाकर सदा-सदा के लिए समस्या का समाधान कर दिया। विवेक जगाने की कला मे निष्णात व्यक्ति ही आज्ञा-अनुशासन का प्रयोग करने मे सफल होते हैं।

आज्ञा के प्रतिष्ठापक आचार्य

आचार्य भिक्षु की वुद्धि औत्पत्तिकी थी। वे किसी भी उलझन का अनूठा समाधान खोजते थे। सामने वाला व्यक्ति कैसा ही तर्क उपस्थित करे, वे उसे समुचित ढग से सुलझा देते थे। उनके जीवन मे ऐसे सैकडो प्रसग घटित हुए। भिक्खु दृष्टान्त मे वे प्रसग उन्ही के शब्दो मे सगृहीत हैं। घटना पीपाड की है। वहा उन्होंने साधु-असाधु की पहचान करते हुए एक पद्य कहा—

अचित वस्त नै मोल लरावै, समिति गुप्ति हुवै खण्ड जी।
महाव्रत तो पाचूई भागै, चौमासी रो दण्ड जी।
साध न जाणौ इण चलगत सू ॥

उक्त पद्य सुन मौजीरामजी वोहरा ने कहा—'घर तो लूट लिया। उस पर दण्ड और देते हैं। जैसे—भीखणजी कहते हैं कि पाचो ही महाव्रत टूट गए। उसके साथ चौमासी का प्रायश्चित्त भी आता है। यह कैसे होगा?' आचार्य भिक्षु वोले—'चौमासी का प्रायश्चित्त पाच महाव्रतो का भग होने के वाद नही कहा गया है।' इस पद्य का भावार्थ यह है—पाच महाव्रतो का भग होता है, पर कितना ? चौमासी प्रायश्चित्त आए उतना।

प्रश्न हो सकता है कि चौमासी प्रायश्चित से शुद्धि हो सके, इतना-सा व्रत भग होने पर पाच महाव्रत टूटने की वात कैसे कही गई ? यह कथन की शैली है। किसी मकान की दीवार गिरती है, फिर भी कहा जाता है कि मकान गिर गया। घडे मे एक छेद होता है तो भी कहा जाता है कि घडा फूट गया। इसी प्रकार महाव्रतो का आशिक खण्डन होने पर भी उनके टूटने की वात कही जाती है।

आचार्य भिक्षु अपने भक्त और विरोधी सव लोगो के प्रश्नो का शान्ति और गभीरता के साथ उत्तर देते थे। क्योकि उनके उत्तर किसी को टालने के लिए नही, अर्हत् मत को उजागर करने वाले होते थे। उन्होंने अपनी साधना और ज्ञान का आधार जिनवाणी को माना था। वे कुछ भी कहते, उससे पहले अर्हत्-आज्ञा की कसौटी पर उसे परख लेते थे। इस कसौटी के प्रति उनकी प्रगाढ आस्था थी। इसी कारण वे अपने धर्मसघ मे आज्ञा और अनुशासन को प्रतिष्ठित करने मे सफल हुए।

जहां आज्ञा नही, वहां धर्म नही

सरदार शहर के श्रावक भवरलालजी दूगड अपनी सामाजिक गतिविधियो एव चारित्रिक विशेषताओ से वहुत लोकप्रिय हो गए। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—'आप समाज के काम मे लाखो रुपये लगा रहे है। क्या इससे धर्म होता है ?' यह वात सुन भवरलालजी वोले—'रुपयो के साथ धर्म का क्या सम्वन्ध है ? मै समाज मे रुपया लगाता हू, वह धर्म के लिए नही लगाता। समाज का ऋण चुकाने के लिए लगाता हू। समाज से मुझको कितना मिला है। हर वर्ग से कुछ-न-कुछ मिला ही है। ऐसी स्थिति मे मैं किसी के लिए कुछ करता हू तो दान-पुण्य मानकर नही करता, धर्म मानकर नही करता, ऋण-मुक्ति के लिए करता हू।'

कितना साफ-सुथरा और जैन सिद्धान्तो के अनुकूल चिन्तन है। इस प्रकार के सुलझे हुए चिन्तन से व्यक्ति एक ओर अह अथवा गर्वोक्ति से मुक्त रहता है तो दूसरी ओर मूढता से भी वचता है। सामाजिक कामो मे धर्म की पुट लगाने वाले व्यक्ति 'अर्हतो' की आज्ञा मे धर्म है, आज्ञा से वाहर धर्म नही है, इस कसौटी का अतिक्रमण कर लोगो को भ्रान्त वनाते हैं।

५०. आज्ञा और अनुशासन की मूल्यवत्ता

हर व्यक्ति मे वडप्पन की मनोवृत्ति होती है। आत्मख्यापन की भावना अपने आपको वडा या उत्कृष्ट दिखाने की ही एक प्रवृत्ति है। मनोविज्ञान इस वृत्ति को स्वाभाविक मानता है। ऐसी स्थिति मे किसी भी व्यक्ति के मन मे शिष्यत्व का भाव भरना कठिन है। पर जहा परम्परित रूप मे ऐसे सस्कार मिलते हैं, वहां गुरु-शिष्य सम्वन्ध की गरिमा वढती रहती है।

तेरापथ धर्मसघ एक आचार्य के नेतृत्ववाला धर्मसघ है। इसकी बुनियाद मर्यादाओ पर टिकी हुई हैं। तेरापंथ का पर्याय मर्यादा है और मर्यादा का पर्याय तेरापंथ है। इस सघ के सदस्य ज्ञान, तपस्या, कला, साहित्य आदि क्षेत्रो मे आगे-पीछे भी रहे तो क्षम्य है। किन्तु मर्यादा, अनुशासन या आज्ञा के सम्वन्ध मे किसी प्रकार की शिथिलता सह्य नही है। आचार्य भिक्षु ने मर्यादा को जीवन का मूलभूत तत्त्व माना है। इसी आधार पर मैंने एक गीत मे लिखा है—

मर्यादामय जीवन सारो मर्यादा रो मान।
आत्मनियंत्रण अरु अनुशासन है शासन की शान॥

मर्यादा, आत्मनियत्रण और अनुशासन के कारण ही इस सगठन ने प्रगति के वहुमुखी आयाम खोलने-मे सफलता प्राप्त की है।

नये अद्वैत का प्रवर्तन

आचार्य भिक्षु अपने धर्मसघ को आदर्श सांचे मे ढालने के लिए सकल्पित थे। उन्होंने अपने समकालीन धर्मसघो की अन्तरग स्थितियो का निरीक्षण और परीक्षण किया। जिन कारणो से वहा विशृंखलता पनप रही थी, प्रारम्भ से ही उनकी जड़ें काटने के लिए वे सचेत थे। उन्होंने पदलिप्सा शिष्य-प्रथा, स्वच्छन्दता आदि प्रवृत्तियो को रोकने के लिए तीन वातो मे अद्वैत की स्थापना की। उसका प्रतिफलित है—

एकाचार्य एक समाचारी एक प्ररूपणा-पथ।
औ नूतन अद्वैत निकाल्यो वाह! वाह! भीखणजी संत॥

आचार्य भिक्षु ने कहा—तेरापथ धर्मसघ मे एक आचार्य का नेतृत्व रहेगा। सघ के सब साधु-साध्वी एक समाचारी मे रहेगे, आचारगत मौलिक भेद को मान्य नही करेंगे। तीसरी बात है तत्त्व निरूपण की एक शैली। आचार्य, समाचारी और तत्त्व निरूपण की एकता के कारण ही आज यह इतनी ऊचाई तक पहुचने मे सफल हुआ है।

'हम सब एक हैं'—यह हमारा घोष नही, आदर्श है। हमारी एकता तेरापथ की प्रतिष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण सेतु है। एक के लिए सब और सबके लिए एक की स्थिति पुष्ट हो जाती है तो सब एक-दूसरे को देखकर प्रसन्न होते हैं। एक साधु या साध्वी के विकास मे हम सघीय विकास का दर्शन करते है और सघीय विकास का लाभ सघ के एक-एक सदस्य को मिलता है।

एक समय था, हमारे देश मे सयुक्त परिवार की परम्परा थी। सौ-पचास व्यक्तियो का खाना साथ बनता था। एक मुखिया के नेतृत्व मे पूरा परिवार निश्चिन्त रहता था। परिस्थितिया बदली, चिन्तन बदला और पारिवारिक ढाचा बदल गया। परिवारो मे बिखराव आ गया। ऐसी स्थिति मे एक साथ रहना और एक नेतृत्व को स्वीकार कर चलना बहुत मुश्किल हो गया है। पर हमारे लिए एक नेतृत्व की बात सहज स्वीकृत है। ऐसा अनुभव होता है कि हम आचार्य भिक्षु के दिये दिन जी रहे है। वे हमे ऐसा सुदृढ सगठन नहीं देते तो आज क्या स्थिति होती?

आज्ञा को शिरोधार्य करने से छूटता है अहकार

आचार्य भिक्षु ने धर्मक्राति की। उस समय वे तेरह साधु थे। साधुओ मे छटनी होते-होते छह साधु रह गए। आज तेरापथ सघ मे साधु-साध्वियो की सख्या सात सौ से ऊपर हो गई है। प्रश्न हो सकता है कि क्या इतने साधु-साध्वियो मे कभी कोई गडबडी नही होती? होती क्यो नही? कोई वीतराग तो है नही। सब साधारण आदमी है, बौद्धिक है, चिन्तनशील है। इनमे विचार-भेद की सभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। किसी व्यक्ति का कोई ईमान है या नही? इसका परीक्षण कोई वस्तु उधार देकर किया जा सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति की गभीरता का परीक्षण उसके साथ चर्चा करके अथवा उसमे कोई दोष बताकर किया जा सकता है।

विचारभेद की स्थिति कभी-कभी मतभेद का कारण बन जाती है। पर आत्मनियत्रण और अनुशासन—इन दो तटो के बीच रहने वाले व्यक्ति [illegible] का अतिक्रमण नही करते। दूध मे उफान होते ही पानी के छींटे डाल दिए जाए

तो उफान शान्त हो जाता है। इसी प्रकार साधना के क्षेत्र मे अहकार और ममकार के नाग फन उठाने लगते है तो उनको सुगुरु की सीख रूप गारुडिक शान्त कर देते हैं। आचार्य की आज्ञा या शिक्षा को शिरोधार्य करने से अहकार और ममकार का विसर्जन हो जाता है।

प्रेरणा के स्रोत

आचार्य भिक्षु ने विनीत-अविनीत की चौपाई मे साधु-सध्वियो को जो शिक्षा दी है, वह हमारे धर्मसघ की अमूल्य धरोहर है। श्रद्धा की चौपाई, आचार की चौपाई आदि ग्रंथ भी अनुपम हैं। श्रीमज्जयाचार्य ने भी समय-समय पर ऐसे गीत और ग्रथ लिखे हैं, जो प्रारम्भिक शिक्षाओ के अखूट भडार हैं। उन्होंने जो लिखा, उसका सार-सक्षेप इस प्रकार है—

'साधु-साध्विया आचार्य की आज्ञा का आराधन करें। वे आचार्य के छन्द—अभिप्राय के अनुकूल रहे। चातुर्मास पूरा होने के वाद वे गुरु-निर्दिष्ट दिशा से भिन्न दिशा मे विहार न करें। आचार्य के दर्शन करने के वाद साधु-साध्वी, पुस्तकें, उपकरण आदि उनको समर्पित किए विना मुह मे आहार-पानी न रखें। अग्रगण्य साधु या माध्वी आचार्य को यह निवेदन करें कि वे आपकी दृष्टि के अनुसार रहने के लिए तैयार हैं। किसी प्रकार की गलती होने पर गुरुएकान्त या समूह मे उपालम्भ दें, उसे प्रसन्नता से स्वीकार करें और उसे गुरु का अनुग्रह समझें।'

जयाचार्य ने मनुष्य की प्रकृति का विश्लेपण वहुत मार्मिक ढग से किया है। लगता है वे महान मनोवैज्ञानिक थे। उन्होने अच्छी प्रकृति और क्षुद्र प्रकृति की पहचान देकर साधु-साध्वियो को स्वभाव-परिवर्तन की दिशा मे आगे वढ़ने की प्रेरणा दी है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने सघ के सगठन पक्ष को सुदृढ वनाने के लिए चारो ओर से प्रयत्न किया। एक ओर मर्यादाओ का निर्माण, दूसरी ओर आस्था और चरित्र को मजवूती देने वाले साहित्य का निर्माण, तीसरी ओर सघ हितैपी एवं अनुशासित साधु-साध्वियो को प्रोत्साहन तथा चौथी ओर अविनीत एवं मर्यादा की अवहेलना करने वालो पर की जाने वाली कड़ी चोट। इस क्रम से धर्मसघ मे अच्छाइयो का प्रवेश और दुर्वलताओ का परिप्कार होता रहा।

जो चोच देंगे वे ही चुग्गा देंगे

आचार्य भिक्षु जितने महान दार्शनिक थे, उतने ही विनोदी स्वभाव के थे। वे कडी से कड़ी वात इस लहजे मे कहते थे कि तत्त्व समझ मे आ जाता और किसी को वुरा अनुभव भी नही होता। कुछलोगो ने उनसे प्रश्न किया—'भीखणजी! एक महाव्रत

टूटने से पाचो महाव्रत कैसे टूट जाते हैं?' आचार्य भिक्षु ने उनको समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया।

एक भिखारी को भिक्षा मे पाच रोटी का आटा मिला। वह रोटिया बनाने के लिए चूल्हा जलाकर बैठा। उसने आटा गूंदा और पाच रोटियो की पाच लोई बना ली। एक लोई कठौती मे थी। दूसरी उसके हाथ मे थी। तीसरी रोटी तवे पर थी। चौथी रोटी अगारो पर सिक रही थी। और पाचवी सिकी हुई रोटी चूल्हे के पीछे रखी हुई थी। अचानक एक कुत्ता आया। वह कठौती मे रखी आटे की लोई मुह मे दबाकर भागा। भिखारी अपने हाथ की लोई के साथ ही कुत्ते से वह लोई छीनने के लिए दौडा। हडबडी मे वह गिर पडा। उसके हाथ की लोई धूल मे मिल गई। इधर तवे की रोटी तवे पर जल गई और अगारे की रोटी अगारे पर जल गई। चूल्हे के पीछे जो रोटी रखी हुई थी, उसे एक बिल्ली लेकर भाग गई। एक रोटी के साथ पाचो रोटिया गई। इसी प्रकार एक महाव्रत के टूटने से पाचो महाव्रत टूट जाते हैं।

बात तत्त्व की हो या व्यवहार की, आचार्य के वचनो को बहुमान देने वाला व्यक्ति ही उससे लाभ उठा सकता है। आचार्य के चरणो मे समर्पित साधु-साध्विया अपनी किसी कठिनाई को लेकर चिन्तित नही होते। वे हजारो किलोमीटर चलकर आए हैं और पुन बहुत दूर जाने का निर्देश मिल जाए, फिर भी उनको घबराहट नही होती। क्योकि वे जानते है कि जो चोच देंगे वे ही चुग्गा देंगे। उनकी यह आस्था होती है कि वे कही भी जाएगे, कही भी रहेंगे, गुरु उनके साथ है। उनके हर कदम पर प्रकाश बिछता रहेगा। ऐसी आस्था से ही गुरु की आज्ञा को सहज भाव से शिरोधार्य किया जा सकता है।

५१. संघपुरुष : एक परिकल्पना

वृक्ष का अस्तित्व उसकी जड पर टिका हुआ है। जडें धरती से जो रस खीचती हैं, उसे स्कन्ध, तनो, शाखाओ, प्रशाखाओ, पल्लवो, पत्तो, फूलो और फलो तक पहुचाती हैं। जड़ से जुडाव न हो तो इनमे से किसी का अस्तित्व सुरक्षित नही रहता। जडें जितनी मजबूत होती हैं, अपने अवयवो को उतना ही अच्छा पोषण देती हैं। एक सूत्र मे वधे रहने का इतना वड़ा लाभ देकर ही मनुष्य ने सामूहिक जीवन शैली का सूत्रपात्र किया होगा।

वम्वई निवासी एम० ओ० माइकल ने एक गमले मे उगी हुई एक ही जड से ३१ प्रकार के क्रोटन उगाए। वे क्रोटन भारत के २२ प्रान्तो और ९ केन्द्रशासित प्रदेशो के प्रतीक थे। हिन्दुस्तान के नक्शे के आधार मे सवारा गया वह एकता वृक्ष क्षेत्र, जाति, धर्म और सस्कृति मे वटे हुए भारतीय लोगो को एक भारतीयता या मनुष्यता मे आवद्ध करने का श्रेष्ठ प्रयोग था।

व्यक्तित्व विकास की यात्रा व्यक्ति अकेला भी कर सकता है, पर समूह मे रहने वाले को कुछ सुविधाएं मिल जाती हैं। धर्म के क्षेत्र मे सुविधाभोगी सस्कृति का मूल्य नही है। पर एक सीमा तक प्राप्त सुविधा का उपयोग किया जा सकता है। इसी पृष्ठभूमि पर भगवान महावीर ने सघवद्ध साधना का प्रयोग किया। भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकरो ने भी सामूहिक साधना शैली का विकास किया। सामूहिक साधना मे सर्वोपरि तत्त्व होता है सघ। सघ का स्वरूप क्या है ? उसके घटक कौन-कौन है ? उसका उपयोग क्या है ? इत्यादि विन्दुओ पर यहा विचार करना है।

संघपुरुष का स्वरूप

जैन आगम नन्दी मे सघ की स्तुति की गई है। वहा सघ को नगर, चक्र, रथ, पद्म, चाद, सूरज, समुद्र और मेरुपर्वत से उपमित किया गया है। ये सभी उपमाएं सार्थक हैं। प्रत्येक उपमा के साथ उसका अपना सिद्धान्त है। मूल आगम मे और उसके व्याख्या-ग्रंथो मे इस सम्वन्ध की विस्तृत चर्चा है।

सघ के लिए एक उपमा है पुरुष। लोकपुरुष और आगमपुरुष की भाति सघपुरुष की भी कल्पना की गई है। लोकपुरुष मे ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोक और अधोलोक के विभाग से पूरे लोक का चित्रण किया गया है। आगमपुरुष मे अग, उपाग आदि आगमो का पुरुष के अगोपागो मे प्रतीकन किया गया है। इसी प्रकार सघपुरुष की कल्पना मे भी सघ के आधारभूत तत्त्वो का समावेश है।

पुरुष के शरीर मे अनेक अग और उपाग होते है। प्रत्येक अग और उपाग का अपना मूल्य है। फिर भी उनमे कुछ अगो को महत्त्व दिया गया है—मस्तिष्क, पृष्ठरज्जु, मुख, कण्ठ, स्कन्ध, हृदय, उदर, हाथ और पैर। सघपुरुष की कल्पना मे भी नौ अगो का अधिग्रहण हुआ है—

अग	सघपुरुष
मस्तिष्क	आचार्य
पृष्ठरज्जु	जिनवाणी
मुख	अनुशासन
कण्ठ	स्वाध्याय
स्कन्ध	विनय
हृदय	ध्यान
उदर	रचनात्मक दृष्टिकोण
हाथ	साधु-साध्विया
पैर	श्रावक-श्राविकाए

मस्तिष्क की अर्हता

मनुष्य के शरीर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक है मस्तिष्क। शरीरतत्र को नियत्रण मे रखने का पूरा दायित्व इसी पर है। वृहद् मस्तिष्क का अग्रपिण्डक व्यक्तित्व एव आचरण का नियामक है। इसका बाया पटल वाणी का नियमन करता है और दाया पटल सगीत, कला आदि के विकास मे सहयोगी बनता है। इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सूचनाओ के ग्रहण और अर्थनिर्णय की जिम्मेवारी भी मस्तिष्क पर है।

एक ओर मस्तिष्क सवेदनाओ का विश्लेषण करता है, दूसरी ओर उन आवेगो पर नियत्रण भी करता है। जिस व्यक्ति का मस्तिष्क प्रशिक्षित नही होता उसकी नियत्रण-क्षमता कम हो जाती है और वह किसी भी स्पन्द सतुलन से, [illegible] अव्यवस्थित हो जाता है।

सघपुरुष का मस्तिष्क आचार्य को माना गया है। इसलिए सघ का नियामक-सूत्र आचार्य के हाथ मे रहता है अथवा यो कहा जा सकता है कि पूरे सघ के नियामक स्वय आचार्य होते है। आचार्य जितने जागरूक होते है, नियमन का काम उतना ही सुचारु रूप से होता है।

आस्थाओं का नियमन

मानव शरीर का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है—पृष्ठरज्जु। इसका काम है—'ज्ञानवाही तत्रिका द्वारा सगृहीत सूचनाओं के आधार पर शरीर की मासपेशियो को आदेश-निर्देश देना तथा विशेष स्थिति मे मस्तिष्क का काम सभालना।

सघपुरुष की पृष्ठरज्जु है जिनवाणी। आचार, विचार, व्यवहार आदि से सम्बन्धित सारे निर्देश, जिनके सूत्रधार अर्हत् या आचार्य होते हैं, पूरे सघ मे सप्रेपित किए जाते है। यह काम जिनवाणी के आधार पर होता है। संघ की मौलिक आस्थाओं की नियामक भी यही रहती है।

सत्य सुन्दर भी हो

मानव शरीर का तीसरा अग है मुख। ललाट, आख, कान, नाक, होठ, कपोल, ठुड्डी आदि सभी मुख के अवयव हैं। इन सब अवयवो के अलग-अलग काम तो है ही, पर समग्र रूप मे मिलकर ये शारीरिक सौंदर्य के मानक बनते हैं। मुख न हो तो सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने वाला ऐसा सशक्त अवयव पूरे शरीर मे दूसरा नही मिलेगा। सघपुरुष मे मुख का स्थान प्राप्त है अनुशासन को। सघ मे साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाए सभी होते है। वे सब अनुशासित रहते है तो सघपुरुष का सौंदर्य निखरता हैं। अनुशासन के अभाव मे विखराव की स्थिति उत्पन्न होती है और सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है।

शक्ति की अभिव्यक्ति जरूरी है

मानव शरीर का चौथा अंग है कण्ठ। इसका सबन्ध स्वरयन्त्र के साथ है। स्वरयन्त्र की शिथिलता और सक्रियता के आधार पर शरीर को तनावमुक्त और सतुलित रखा जा सकता है।

संघपुरुप मे स्वाध्याय को कण्ठ के स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। स्वाध्याय मुखरता का प्रतीक है और अभिव्यक्ति की क्षमता का वाहक है। जिस पुरुष मे अभिव्यक्ति की क्षमता नही होती, उसकी शक्ति का समुचित उपयोग नहीं हो सकता और कभी-कभी वह मौन के शून्य मे खो जाता है। इस दृष्टि मे संघपुरुप को शक्तिसंपन्न बनाने मे स्वाध्याय की बहुत बडी भूमिका है।

दायित्व वहन की क्षमता

मानव शरीर का पाचवा अग है स्कन्ध। स्कन्ध का काम है भार वहन करना। जिस व्यक्ति के कन्धे मजबूत होते है, वह बहुत अधिक भार उठा सकता है और लम्बे समय तक भार का वहन करता हुआ भी परिश्रान्त नही होता।

सघपुरुष के शरीर मे स्कन्ध का स्थान विनय को मिला है। इसके आधार पर सघ की दायित्व क्षमता का आकलन किया जा सकता है। जिस सघ मे विनय की मूल्यवत्ता है और विनय के आधार पर सघ की व्यवस्थाओ का सचालन होता है, उसकी दायित्व क्षमता उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है।

प्राणशक्ति का प्रवाह

मानव शरीर का छठा अग है हृदय। हृदय का काम है रक्त की शुद्धि के लिए उसे फेफडो तक पहुचाना और शुद्ध रक्त को पूरे शरीर मे प्रसारित करना। हृदय जितना स्वस्थ और मजबूत होता है, रक्तशुद्धि और रक्तप्रसारण का काम उतना ही व्यवस्थित होता है।

सघपुरुष मे हृदय का स्थान प्राप्त हुआ है ध्यान को। ध्यान की साधना से सघ की प्राणशक्ति और पवित्रता बढती है। प्राणवान और पवित्र सघ [illegible] होकर कठिन से कठिन काम कर सकता है तथा वह दूसरो मे भी प्राणशक्ति और पवित्रता का सचार कर सकता है।

रचनात्मक दृष्टिकोण

मानव शरीर का सातवा अग है उदर। उदर मे आमाशय, पक्वाशय, छोटी आत, बडी आत, क्लोम ग्रन्थि, यकृत, प्लीहा एव गुर्दे स्थित है। आमाशय, पक्वाशय आदि मे चार करोड से अधिक ग्रन्थिया है। जो समय-समय पर स्राव करती है। वे स्राव ही भोजन को पचाने मे सहयोगी बनते है। भोजन के सार तत्त्व को रक्त के माध्यम से पूरे शरीर मे पहुचाने का काम भी उदर का है। वही सारतत्त्व आक्सीजन के साथ मिलकर विशेष रासायनिक क्रिया के द्वारा नयी ऊर्जा उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उदर मानव शरीर की ऊर्जा की सामग्री का सृजन केन्द्र है।

सघपुरुष मे उदर का स्थान है रचनात्मक दृष्टिकोण का। सघ मे और रचनात्मक दृष्टिकोण न हो तो न सघ का विकास हो सकता है और न उससे अन्य लोगो को कोई लाभ मिल सकता है। सघपुरुष की सक्षमता सक्रियता और प्रासगिकता उसके रचनात्मक दृष्टिकोण पर ही निर्भर है। रचनात्मक दृष्टिकोण के विकास मे सघ के हृदय 'ध्यान' का बहुत बडा उपयोग हो सकता है।

कर्तृत्व क्षमता

मानव शरीर का आठवा अग है हाथ। हाथ कर्तृत्व का प्रतीक है। 'हाथ से काम करो', अपना हाथ जगन्नाथ,' 'सहयोग के हाथ बढाओ' आदि मुहावरे भी इस तथ्य को पुष्ट करने वाले है। मनुष्य का मस्तिष्क, हृदय आदि विशिष्ट अग [illegible]

और सक्रिय हो पर उसके हाथ दुर्वल हो तो वाछित काम नही हो सकता।

संघपुरुप के हाथ हैं साधु-साध्विया। जिस सघ के साधु-साध्वी आचारनिष्ठ, नीतिनिप्ठ, कर्त्तव्यनिष्ठ, श्रमशील और समर्पित होते है, उसका कर्तृत्व कभी विवादो के घेरे मे नही आता। कर्तृत्व कभी किसी का मुहताज नही होता, यह जनश्रुति भी हाथ की महत्ता को स्वीकार करती है।

गति का आधार

मानव शरीर का नौवां अंग है पैर। पैर गति का प्रतीक है। गति के साथ पूरे शरीर का भार उठाने की वात भी पैरो के साथ जुडी हुई है। जिस व्यक्ति के पैर कमजोर होते है, वह चलते-चलते लडखड़ा जाता है। पैरो का सवन्ध स्वावलम्वन से भी है। अपने पावो पर खडे होने की वात इसी तथ्य को अभिव्यक्ति देती है।

सघपुरुप के शरीर मे गति का प्रतीक माना गया है श्रावक-श्राविकाओ को। जिस संघ के श्रावक-समाज मे इस्पात-सी दृढता होती है, सगठन मे निष्ठा होती है, चारित्रिक उज्ज्वलता होती है, कठिन काम करने का साहस होता है, उद्देश्य पूर्ति के लिए स्वय को झोकने का मनोभाव होता है, वह सघ अपने निर्धारित लक्ष्य तक वहुत कम समय मे पहुच सकता है।

संघपुरुष · चिरायु हो

मस्तिप्क से लेकर पैर तक नौ अंग है। ये नौ अग जिस सघ के पास होते है, वह शक्तिशाली होता है और दीर्घजीवी होता है। संघ के विकास मे इन सभी अंगो का पूरा-पूरा योग रहता है। किन्तु विकास के लिए चिन्तन और कार्य करने का दायित्व साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओ पर है। योगक्षेम वर्ष चतुर्विध धर्मसघ के व्यक्तित्व निर्माण का वर्प है। प्रज्ञाजागरण के द्वारा चतुर्विध धर्मसंघ को तेजस्वी वनाने का वर्प है। इस वात को ध्यान मे रखकर इस वर्प का घोप निश्चित किया गया है—सघपुरुप चिरायु हो। सघपुरुप से हमारा अभिप्राय आचार्य से नही, पूरे धर्मसघ से है। उसके एक-एक अग की स्वस्थता और सक्रियता दीर्घजीविता का सूत्र है। तेरापथ धर्मसघ मे आचार्य का नेतृत्व है। नीति-निर्धारण का आधार जिनवाणी है। अनुशासन उसके केन्द्र मे है। स्वाध्याय, विनय, ध्यान और रचनात्मक दृप्टिकोण मे संघ का विस्तार निहित है। सघ के कर्तृत्व को निखारने और उसे निरन्तर गतिशील वनाए रखने मे साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओ की जागरूकता काम आती है। हमारा यह नवागी 'सघपुरुप' अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता हुआ संपूर्ण मानव जाति को अध्यात्म की दिशा मे अग्रसर करे, यही आकाक्षा है। □□